ॐ

दिनचर्या

लेखक

पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल

प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

सूचना

मनुष्यकी आयु बहुत थोड़ी है और वह भी भाँति-भाँतिके विघ्नोंसे भरी हुई है। सुतरां कितनी अनावश्यक व्यर्थताओंके मध्य होकर हमें अपने जीवनको प्रवाहित करना पड़ता है, इसके विचारमात्रसे ही हृदयमें आतङ्कका सञ्चार होता है। जीवनमें सुख-दुःख, बाधा-विघ्न, अशान्ति-पीड़ा, क्लेश-दैन्य रहेंगे ही; इन सबको हटाकर तदनन्तर जीवनके उद्देश्यको समझेंगे और तब उसकी प्राप्तिके लिये साधनामें प्रवृत्त होंगे। इस प्रकारका सुअवसर जीवनमें कभी प्राप्त होगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; अतएव अवसरकी बाट न देखकर जिस अवस्थामें अभी हम हैं उसीमें जितना हो सके इस जीवनको नियमितकर मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य जो भगवत्प्रेमकी प्राप्ति है, उसीके लिये प्रतिदिन अपनेको प्रस्तुत करते रहना आवश्यक है। भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करना कोई आसान बात नहीं। हमारी सारी इन्द्रियाँ, सारी कर्मचेष्टाएँ संकुचित स्वार्थपरताकी सीमा लाँघकर जब विश्व-देवताके चरणोंमें लोटने लगेंगी तभी हम यथार्थतः भगवान्‌के प्रेम-भक्तिके अधिकारी होंगे। किन्तु संसारके विविध सन्ताप और क्षुब्धताओंमें चित्तको अविच्छिन्नरूपसे ईश्वरकी ओर लगाये रखना सहज तो है ही नहीं; वरं नाना प्रकारके प्रलोभनोंसे भरे हुए संसारमें भोग-सुखोंमें आसक्त-चित्तको आपात-

कठोर एवं परिणाम-मधुर भगवत्प्रेमका लोभ दिखाकर संसार-से विमुख करना अत्यन्त ही क्लेशकर है। इसीलिये युवा-अवस्थासे ही अपने जीवनको कुछ ऐसे सुनियमोंमें सञ्चालित करना चाहिये जिससे भविष्यत्‌में कुमार्गमें पड़नेकी सम्भावना कम रहे।

सबसे पहले जीवनके उद्देश्य और लक्ष्यको निश्चित कर लेना परमावश्यक है। स्वयं अपने जीवनके लक्ष्यको स्थिर न कर सकनेपर साधु-महात्माओंका उपदेश प्राप्त करना आवश्यक है। केवल उनके उपदेशमात्रसे ही हम कृतार्थ हो जायँगे इसकी आशा कम रखनी चाहिये, यदि हम आलस्य छोड़कर अपने पैरोंके ऊपर खड़ा होनेकी चेष्टा नहीं करेंगे। जीवनका उद्देश्य और लक्ष्य यदि एक बार स्थिर हो गया तो फिर उसी लक्ष्यकी ओर चित्तकी गतिको ठीक रखनेके लिये कितनी प्रारम्भिक शिक्षाकी आवश्यकता प्रतीत होती है। हम यदि अपने चित्तको ईश्वरमुखी करना चाहें तो हमें भी उस शिक्षाकी आवश्यकता होगी। उस शिक्षामें इन विषयोंकी ओर ध्यान देना विशेष आवश्यक है—

(क) शारीरिक और मानसिक पवित्रताकी रक्षा—इनके लिये इन्द्रियोंका संयम आवश्यक है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वह शारीरिक स्वास्थ्य अथवा मानसिक बलकी प्राप्तिका कभी अधिकारी नहीं हो सकता।

(ख) जीवमात्रके प्रति करुणा और आत्मवत् सहानुभूति एवं मनुष्यके कल्याणकर कार्यमें आनन्दपूर्वक सम्मिलित होना।

(ग) व्यर्थ और अनावश्यक सङ्कल्पोंको चित्तमें न आने देना।

(घ) सत्यके प्रति अटल विश्वास—वाक्य, सङ्कल्प, कार्य और चिन्तनमें सत्यको दृढ़भावसे पकड़े रखना और असत्यसे सब प्रकार अपनेको बचाना।

(ङ) स्वाध्याय—प्रतिदिन ही सद्ग्रन्थोंसे कुछ-न-कुछ अध्ययन करना और अपने ज्ञान-भण्डारकी वृद्धि करना।

(च) आत्म-ध्यान और भगवदुपासना—प्रतिदिन कुछ समयतक भगवान्‌की उपासना अवश्य ही होनी चाहिये, इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है।

(छ) नियमानुवर्तन भी चरित्रगठनके लिये प्रधान सहायक है। यह चरित्रको दृढ़ करता है एवं आत्मशक्तिको विकसित करता है। अतएव जीवनमें जो कुछ भी करना हो, वह नियम-बद्ध होना चाहिये। जीवनको लक्ष्यकी ओर सञ्चालित करनेके लिये जिन नियमोंका मानना आवश्यक है, उनका अपने-अपने प्रयोजन और सुभीतेके अनुसार विचारकर पहलेसे निश्चित कर रखना आवश्यक है एवं एक बार उनके निश्चित हो जानेपर उनके पालन करनेमें कभी फिर मुँह मोड़ना उचित नहीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि लक्ष्यको प्राप्तिके लिये यदि अटल आग्रह हृदयमें न हो तो लक्ष्यस्थलपर पहुँचना नितान्त असम्भव है।

(ज) किसी विषयमें अत्यन्त लोभ रखना अच्छा नहीं। सांसारिक उन्नति ही नहीं, वरं आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भी

अनुचित लोभ रखनेसे धर्मकी हानि होती है, क्योंकि धर्मका पथ बड़ा ही दुर्गम है।

(भ) संसार हमारे नित्यके रहनेका स्थान नहीं है, अतएव निश्चिन्त रहना ठीक नहीं, एवं इस शरीरके स्थायीपन-पर कभी विश्वास करना ठीक नहीं। यह शरीर जबतक है एवं इस संसारमें हम जबतक जीते हैं, हमें ध्यानमें रखना चाहिये कि यह पृथ्वी हमारेलिये कर्मक्षेत्रमात्र है, यह हमारा नित्य निकेतन नहीं और यह शरीर यन्त्रमात्र है, इसे अपने वशमें रखना होगा। शरीरमें अनेक प्रकारकी उत्तेजनाएँ होती हैं। उनके वशीभूत होनेसे काम नहीं चलेगा। शरीर तो एक कल है, इसे जिस प्रकार चलावेंगे वैसे ही चलेगा।

पृथ्वीके नाना प्रकारके विकारोंमें भी चित्तको स्थिर रखना होगा। गृहस्थ बनो, पर भोग और आराम मत चाहो। ब्रह्मनिष्ठ और तत्त्वज्ञानपरायण होओ। दूसरेके धनपर लोभ मत करो। भगवान्ने तुम्हें जो कुछ दे रक्खा है, उसीका सन्तुष्ट-चित्त हो भोग करो, 'यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ' कहकर अपने-अपने भाग्यको धिक्कार मत दो। सुख-दुःख जो कुछ भी आवे सभी अवस्थाको ही प्रसन्न-चित्तसे स्वीकार करनेकी चेष्टा करो।

ॐ

दिनचर्या (मूल) पर सम्मतियाँ

सर्वदेशमान्य कविसम्राट् श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर—

'आपकी 'दिनचर्या' पढ़कर उत्साह और उपकार प्राप्त किया। यह पुस्तक खूब कामकी हुई है।'

कलकत्ता हाईकोर्टके भूतपूर्व जज स्व० श्रीशारदाचरण मित्र—

'दिनचर्या' पाकर कृतार्थ हो गया......आदिसे अन्ततक पढ़कर बहुत ज्ञान प्राप्त किया। भाषा सरल है, गहन और गुह्य विषय सरलरूपमें समझाये गये हैं; परिशिष्टके स्तोत्र और भजन आदिके चुनावमें सुरुचि, ज्ञान और भक्तिका परिचय मिलता है। इस प्रकारका यह ग्रन्थ......हरेक सनातनधर्मीके पुस्तकालयमें रहना चाहिये।......'दिनचर्या' के लिये आपका विशेष कृतज्ञ हूँ।'

भागलपुरके टी० एन० जुबिली-कालेजके भूतपूर्व अध्यक्ष स्व० हरिप्रसन्न मुखोपाध्याय एम० ए० बी० एल०—

'पुस्तक उपदेशपूर्ण है और इसमें हिन्दूधर्मकी बहुत-सी सार बातोंका वर्णन है। पुस्तक पढ़कर मैंने बहुत-सी बातें सीखीं।'

दिनचर्या

पहला अध्याय

दैनिक कर्तव्य

१. शय्या-त्याग—सूर्योदयसे ढाई घड़ी अथवा कम-से-कम एक घण्टा पहले बिछौनेसे उठ जाना चाहिये। नींद खुल जानेपर आलस्य करके बिछौनेपर पड़े रहना उचित नहीं है। शरीर जैसे चाहता है, उसे किसी तरह भी वैसे करने देनेसे काम नहीं चलेगा।

इस शरीरसे आत्माका क्या सम्बन्ध है, एवं सब जीवोंके साथ अपने आत्माका क्या सरोकार है, बिछौनेसे उठते ही सबसे पहले इस बातपर विचार करना चाहिये। पश्चात् 'जगत्के कल्याणमें ही अपना कल्याण भरा है' यह दृढ़रूपसे निश्चय करना चाहिये। तदनन्तर जो भूर्भुवः स्वः—इन तीनोंको प्रकाशित करनेवाले हैं और हमारे आत्म-चैतन्यका विकास करते हैं, जो इस विचित्र

संसारके अन्दर विविध प्रकारके विचित्र व्यापारोंको प्रतिक्षण प्रस्फुटित करते रहते हैं, आकाश, वायु, अग्नि एवं जलमें जो अपना दर्शन देते हैं, जिन्होंने संसारके विचित्र जीवोंके विचित्र सम्बन्ध एवं विचित्र योगको अपने स्नेह, प्रीति और प्रेमद्वारा संयुक्त कर रक्खा है, उन 'परमदेव'के 'वरणीय भर्ग' का अनन्य चित्तसे एक बार स्मरण कर लेना चाहिये। ऐसा करनेसे तीनों लोकोंके साथ तुम्हारा जो नित्य-सम्बन्ध है, उसे तुम उसी समय स्पष्टरूपसे समझ सकोगे; और यह भी समझ सकोगे कि इह-लोक, भुवर्लोक किंवा स्वर्लोकमें तुम जहाँ कहीं भी होओ, तुम सब समय सब प्रकारसे उन्हीं परमात्मामें निवास करते हो। तुम्हारा उनसे कभी विछोह नहीं होता। प्रतिदिन क्षणभरके लिये भी ऐसा ध्यान किया जाय तो बड़ा आनन्द आता है।

२. बाहरी शुद्धि—बिछौनेसे उठते ही मल-मूत्र त्याग करनेके लिये, यदि असुविधा न हो तो कहीं दूर चले जाना चाहिये। स्वास्थ्यके विचारसे भी इसकी आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती। ऐसा सुयोग न हो तो जहाँ जैसी व्यवस्था हो उसीके अनुसार काम चला लेना चाहिये। शौचादिसे निवृत्त होकर दन्तधावन (दातून) करना आवश्यक है। दाँतोंसे खून न निकले, यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये।

स्नान—शरीर अस्वस्थ न हो तो प्रातःस्नान ही सब प्रकारसे श्रेयस्कर है। समीपमें यदि कोई बहती हुई नदी, समुद्र अथवा स्वच्छ और बड़ा तालाब हो तो उसमें (डुबकी लगाकर) स्नान

करना चाहिये। इनके अभावमें बावड़ी अथवा कुएँका ताजा जल निकालकर स्नान करना उचित है। जिन शहरोंमें केवल नलका ही जल मिलता हो, वहाँ उसीसे नहा ले। किन्तु यदि डेढ़-दो मीलकी दूरीपर भी बहती हुई नदी हो तो वहाँ जाकर ही स्नान करना उचित है। स्नान करते समय अंगोछेको पानीसे भिंगोकर सारे शरीरपर खूब जोरसे रगड़ना चाहिये, जिससे शरीरका सब मैल उतर जाय। इस समय एकाग्र-चित्तसे ऐसी भावना करनी उचित है कि—'शरीरके मैलके साथ हमारा रोग और मनका मैल भी धुल जाय!' प्रतिदिन स्नानके समय ऐसी भावना करनेसे कुछ लाभ हो सकता है। कम-से-कम जो लोग इच्छाशक्तिकी सामर्थ्य स्वीकार करते हैं, वे तो इसकी उपकारिता अवश्य मानेंगे। यदि शरीर भलीभाँति स्वस्थ न हो तो ठण्डे अथवा गरम जलमें अंगोछा भिंगोकर अच्छी तरह निचोड़ ले, तत्पश्चात् उस अंगोछेसे सिरसे पैरतक भली प्रकार पोंछ ले। जाड़ेमें आलस्यवश स्नान न करना अथवा उसमें विलम्ब करना जिस प्रकार अनुचित है, गरमीमें अधिक विलम्बतक जलमें पड़े रहना भी उसी प्रकार हानिकारक है।

स्नानोपरान्त स्नान-मन्त्र और वैदिक सूक्तोंका पाठ करना चाहिये। स्नानके अन्तमें अपनेको भलीभाँति पवित्र और शुद्ध समझना चाहिये।

वस्त्राधान—स्नानके पश्चात् पवित्र वस्त्र पहननेकी विधि है। दूसरेके द्वारा न छूए हुए, भलीभाँति धोये हुए और सूखे अथवा

यदि उपलब्ध हो सके तो शुद्ध रेशमी वस्त्र पहनकर एवं शरीर ढक-कर सन्ध्या-वन्दनादि करना चाहिये। इस समय मस्तक और शरीरपर चन्दन लगाना उत्तम है।

सदा साफ कपड़ा ही पहनना उचित है। सिरके बालोंको प्रतिदिन कङ्घेसे साफ कर लेना चाहिये, परन्तु सुन्दर दीखनेके लिये बालों-को टेढ़े-सीधे सजाना अच्छा नहीं। फैशनके लिये शरीरको सजानेमें ज्यादा ध्यान न रहना ही अच्छा है। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि कपड़े शरीर-रक्षाके लिये हैं, बाबूगिरी करनेके लिये नहीं। विदेशी कपड़े हमारे देशकी जल-वायुके अनुकूल नहीं हैं; अतः इन सब कामोंमें अन्ध-अनुकरण अच्छा नहीं।

३. ईश्वरोपासना—धुले हुए पवित्र वस्त्र पहनकर सन्ध्या-वन्दनादि करना कर्तव्य है। द्विजातियोंके नित्यकृत्य सन्ध्यादिमें जो सुन्दर-सुन्दर वेदमन्त्र हैं, उनका अर्थ समझकर पाठ करनेसे मनकी ग्लानि दूर हो जाती है। किन्तु अर्थ न समझकर उसके उद्देश्यकी उपलब्धि किये बिना, तोतेकी नाईं केवल रटनेपर वे रस-हीन हो जाते हैं और उनका यथार्थ उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है। सन्ध्यामन्त्रोंका अर्थ विशेष कठिन नहीं है, सहज ही सबकी समझमें आ सकता है*।

---

* कुछ सन्ध्या-मन्त्रोंका रहस्य और अर्थ इस प्रकार है—

१—धूपसे जला हुआ मनुष्य जिस प्रकार वृक्षके नीचे जाकर तापसे छूट जाता है, स्नान करनेपर जिस प्रकार शारीरिक मलसे मुक्त हुआ जाता है, घी जिस प्रकार संस्कारद्वारा पवित्र होता है, उसी प्रकार जल मुझको पापसे मुक्त कर दे।

प्रातःसन्ध्यामें रातके पापोंको नाश करनेके लिये भगवान्की सूर्यमूर्तिके प्रति प्रार्थना की गयी है, एवं उन्होंने हम सबके मङ्गल-

---

२—हे जल ! क्योंकि तुमलोग सुखदायक हो, इसीलिये तुम हम सबको अन्नभोग एवं महत् और रमणीय ज्ञान-लाभके अधिकारी बनाओ।

३—पुत्र-हितैषिणी जननी जिस प्रकार अपना स्तन्य-रस पिलाकर पुत्रका कल्याण करती है, उसी प्रकार हे जल ! तुमलोग भी इहकालमें हम सबको अपने कल्याणतम रस-पानका अधिकारी बनाओ।

४—हे धनशालिन् निर्मल-स्वभाव सूर्य ! मैंने असमर्थ होकर ही विहित कर्मके प्रतिकूल आचरण किया है, अर्थात् मैं विहित कर्म नहीं कर सका हूँ। हे शोभन धनशालिन् ! मुझे सुखी करो एवं मुझपर दया करो। हे सूर्य ! हमलोगोंने मनुष्य होकर देवताओंके प्रति जो कुछ अपकार किया, एवं अज्ञान-वश तुम्हारी उपासनामें मन नहीं लगाया है, हे देव ! उस अपराधके लिये हम सबका विनाश न कर देना। मनुष्य अहङ्कारमें मतवाला होकर अनुचित इन्द्रिय-भोगद्वारा जो इन्द्रियोंका तेज क्षय करता है, एवं अज्ञानवश शिश्नोदर-परायण होकर भगवान्की उपासना-से मुँह मोड़ लेता है, हे देव ! तुम यदि इन सब अपराधोंको क्षमा न करोगे तो महाविनाशसे बचनेका और कोई उपाय नहीं है।

५—हे सूर्य, मन्यु एवं मन्युपति ! अविवेक-वश सम्पूर्ण इन्द्रियोंके दैन्य, ताप, क्रोध एवं अहङ्कारकृत पापोंसे मेरी रक्षा करो, जिससे मैं दैन्य, क्रोध अथवा अहङ्कारवश नहीं करने योग्य कार्य न कर बैठूँ। मैंने रातको मनसे, वाक्यसे, दोनों हाथोंसे, दोनों पैरोंसे, पेट अथवा लिङ्गद्वारा जो सब पाप किये हैं, रात्रि-देवता उन्हें नष्ट करें। मुझमें जो कुछ भी पाप हैं, उन पापोंको और उन पापोंके कर्ता अपनेको (लिङ्ग-शरीरको) मैंने जगत्-कारणरूप सूर्य-ज्योतिमें अर्थात् हृदय-पद्ममें स्थित प्रकाशस्वरूप एवं नित्य चैतन्यस्वरूप परमात्मामें होम कर दिया। देह, मन और

के लिये जो कल्याणकारी विधान किये हैं, उसके लिये कृतज्ञता-प्रकाशपूर्वक भविष्यत्‌में पाप-वृत्तिसे बचनेके लिये प्रार्थना की गयी

बुद्धिको आश्रय करके ही पापादि वर्तमान रहते हैं। अहङ्कार-वश इन सब (देह, मन आदि) को आत्मा समझकर इन्द्रियादिकृत पापमें आत्मकृत पापका भ्रम हो जाता है। यदि शरीर और मनको इस आत्मस्वरूपमें डुबो दिया जाय, तो आधारके अभावमें आधेय वस्तु जिस प्रकार अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार शरीर, मन और बुद्धिको समर्पण कर चुकनेवालेके समस्त पाप विलीन हो जाते हैं। अतएव इस मन्त्रमें भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पणकी ही व्याख्या की गयी है। भगवान्‌के प्रति दीनभावसे आत्मसमर्पण किये बिना किसी भी प्रकार इस देहादिके अहङ्कार एवं तज्जनित तापसे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। बहुतेरे लोग सोचते हैं कि सूर्य एक जड पिण्ड है, उसके सामने इतना अनुनय-विनय क्यों करना चाहिये। जो स्वयं जड है—वह पापनाशक चेतन कर्ता कैसे हो सकता है? अतः यहाँ सूर्यके सम्बन्धमें हमारे ऋषियोंके सिद्धान्तका उल्लेख करना आवश्यक है। प्रथम तो ऋषि किसी वस्तुको जड वस्तुके रूपमें देखते ही न थे, वे सभी वस्तुओंमें उसी अखण्ड चेतनरूपको देखकर मातृस्नेहसे पुलकित सरल शिशुकी भाँति भगवान्‌से उत्पन्न वस्तुमात्रमें ही उनकी महिमा देखकर आनन्दसे नाचते-नाचते उन्हींकी महिमा गाया करते थे। इसीलिये सबकी अपेक्षा अधिक प्रकाशशील सूर्यमें भी ऋषिगण उन्हीं परमात्माकी महिमा देखकर परमात्माके 'वरणीय भर्ग' (पूजनीय तेजपुञ्ज) के रूपमें सूर्यदेवकी पूजा करते थे। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है—

'आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥
हृदाकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते।
स एवादित्यरूपेण बहिर्नभसि राजते॥'

है। मध्याह्न एवं सायं-सन्ध्यामें भी प्रायः यही सब मन्त्र हैं। ब्राह्मणेतर जातियाँ भी ऐसी प्रार्थनाएँ कर सकती हैं। इन प्रार्थनाओंके द्वारा उनका भी यथेष्ट कल्याण होगा।

यह तेजपुञ्ज ही वहिराकाशमें सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती होकर भी प्राणियोंके हृदयमें जीवात्मारूपसे स्थित रहता है। इसीलिये योगी याज्ञवल्क्यने कहा है, कि जो समस्त ज्योतिर्मय पदार्थोंमें श्रेष्ठ और आदित्यके अन्तर्गत हैं, वही सब जीवोंके हृदयोंमें जीवात्मारूपसे विराजमान हैं। हृदयाकाशमें साधकगण जिस ज्योतिर्मय जीवचैतन्य-की वर्णना करते हैं, वही वहिराकाशमें आदित्यरूपसे विराजित हैं।

'वरेण्यं वरणीयञ्च जन्मसंसारभीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले॥'

यह भर्ग वरणीय है अर्थात् जन्मादि दुःखनाशके लिये ध्यान-द्वारा उपासना करने योग्य है। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है कि, जन्म और संसारके भयसे भीत मनुष्य जन्म, मृत्यु एवं त्रिविध (अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) दुःखोंके विनाशार्थ सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती वरणीय भर्ग नामक पुरुषका ध्यानद्वारा दर्शन करे।

अतः यह सिद्ध हुआ कि यह सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती जो चेतन पुरुष है, उसी पुरुषका ध्यान करना चाहिये। इसीलिये नारायणके ध्यानमें कहा गया है कि—

'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः।'

इस सविताके अन्तरस्थ पुरुष ही नारायण हैं।

'यन्मण्डलं सर्वगतस्य विष्णोरात्मा परं धाम विशुद्धतत्त्वम्।
सूक्ष्मान्तरैर्योगपथानुगम्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्॥'

४. ध्यान । *समय*—सन्ध्या समाप्त करनेके पश्चात् चित्तको भगवद्ध्यानमें लगाना चाहिये । प्रतिदिन ध्यानका अभ्यास करते-करते ध्येय वस्तुकी धारणा होती है, एवं उसके बाद समाधि हो सकती है । ध्यान घन होनेसे ही एकाग्रता, तन्मयता आ जाती है । रातके पिछले पहरसे लेकर प्रातःकालतक ध्यानका अत्युत्तम समय है । सुषुप्ति-अवस्थामें गत दिवसकी जो-जो चिन्ता और चञ्चलता निमग्न हो गयी थीं, वे भी विशेषरूपसे उस समय जाग्रत् नहीं होतीं और दिनकी नयी कर्म-चेष्टा भी प्रारम्भ नहीं होती—सुषुप्तिकी विस्मृति और जागरणकी कर्म-प्रवृत्ति इन दोनोंका ही यह सन्धि-स्थल है । भगवान् परमात्माके साथ हमारी आत्माका जो नित्य योग है, उसे उपलब्ध करनेका ऐसा उत्तम समय दूसरा नहीं है ।

स्थान और आसन—

उपनिषद्में लिखा है—

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥'

कंकर और गरम बालूसे रहित समतल और पवित्र देशमें, उत्तम जलाशय और उत्तम शब्दादिसे मनोरम, सुदृश्य एवं सुन्दर वायु-सेवित स्थानमें बैठकर परब्रह्ममें आत्माको समाहित करना चाहिये ।

मेरे 'मैं' का शरीर जैसे यह देह-पिण्ड है, वैसे ही यह सूर्य, जिनको हम देखते हैं, भगवान्के देहस्वरूप हैं । श्रुतिमें कहा है—

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥'
(६।१०-१२)

योगारूढ़ होनेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तिको निरन्तर निर्जन स्थानमें रहकर देह और अन्तःकरणका संयम एवं आशा और परिग्रहका त्याग करके चित्तको समाहित करना चाहिये और इसीलिये पवित्र स्थानमें निश्चलरूपसे आसन जमाना चाहिये। वह आसन अधिक ऊँचा अथवा अधिक नीचा न हो। पहले कुशासन, उसपर मृगाजिन एवं उसके ऊपर वस्त्र बिछाना चाहिये, जितचित्त और जितेन्द्रिय पुरुष ऐसे आसनपर बैठकर अपने मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये समाधिका अभ्यास करें।

श्वास और मनके संघर्षणसे एक प्रकारके दिव्य तेजका सञ्चार होता है, उस तेजके शरीर और मनमें स्थायी होते ही शरीर कान्तिमय और मन शक्तिसम्पन्न हो जाता है। परन्तु पृथ्वी उस तेज-को शरीरमें स्थिर नहीं होने देती। वही अधिक परिमाणमें स्वयं आकर्षण कर लेती है। अजिन (मृगचर्म) इस आकर्षणको रोकता है। इसीलिये सन्ध्योपासनामें बैठनेके समय अजिनके व्यवहारकी आवश्यकता ऋषियोंने बतलायी है।

बैठनेका ढंग—

'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥'

वक्ष, ग्रीवा और मस्तकको उन्नत करके शरीरको समभावसे स्थापित कर, एवं मनके साथ चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंको हृदयमें सन्निविष्ट करके संसारार्णवके भयावह स्रोतोंको ब्रह्मरूप नौकाके द्वारा पार करे।

गीतामें लिखा है—

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥'
(६। १३)

योगाभ्यासी पुरुष यत्नपूर्वक शरीर, शिर और ग्रीवाको समान और अचल भावसे रखकर नासिकाके अग्रभागको देखता रहे, अन्य किसी ओर दृष्टि न डाले।

सारांश यह कि स्थान भलीभाँति पवित्र और शोभायुक्त हो, जहाँ किसी प्रकारकी दुर्गन्धि अथवा कूड़ा न हो और पूर्ण-रूपसे कोलाहलशून्य हो। जिसके चारों ओर चित्तमें विक्षेप करनेवाला कोई दृश्य न हो, जो धूप-धूने आदिद्वारा खूब सुगन्धिमय बना लिया गया हो। ऐसे स्थानमें साधक पहले कम्बल अथवा कुशासन बिछाकर उसपर मृगचर्म या वस्त्र डालकर

बैठे। शरीर, गला अथवा मस्तक न बहुत ऊँचा करे और न नीचा ही, तथा न टेढ़ा करे और न कुबड़ाकर बैठे। मेरुदण्डको खूब सीधा स्थिर भावसे रखकर बैठे। यही योगशास्त्रका उपदेश है।

बैठनेके समय स्वस्तिकासन, पद्मासन अथवा सिद्धासनसे ही बैठना उचित है।* इन तीनोंमेंसे किसी एक आसनका अभ्यास कर लेना कठिन नहीं है। आसन लगाकर बैठनेका उद्देश्य यही है कि इससे सारा शरीर ठीक सीधा रहता है और श्वास-प्रश्वासकी गति भी खूब सरल होती है। आसनोंके अभ्यासासे अनेकों मनुष्य नाना प्रकारकी व्याधियोंसे छूट गये हैं।

दिशा—शास्त्रमें पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर पूजा-अर्चना करनेकी विधि पायी जाती है, निश्चय ही इसका अनुसरण करनेमें कोई हानि नहीं है।

---

* स्वस्तिकासन—

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते॥

जङ्घा और ऊरुके बीचमें दोनों पैरोंके तलवे रखकर सरल (ऋजु) भावसे बैठनेका नाम स्वस्तिक आसन है।

पद्मासन—

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ॥

वाम ऊरुपर दाँया चरण और दाँए ऊरुपर बाँया चरण रखकर सरल भावसे विराजित होना ही पद्मासन कहलाता है। साथ ही गोदके समीप बाँया हाथ चित करके उसपर दाँया हाथ चित रखना चाहिये।

५. धारणा—तत्पश्चात् यह धारणा करे—*'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'* (तैत्तिरीय उपनिषद्) जिससे ये समस्त भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसके द्वारा ये जीवित हैं, एवं अन्तकालमें जिसमें विलीन होते हैं, वही ब्रह्म हैं। जिस प्रकार वृक्षका एक स्थान मूल, एक मध्य भाग और एक ऊर्ध्व है; किन्तु ये तीनों स्थान एक ही समयमें एक ही वृक्षमें वर्तमान हैं, इसी प्रकार यह भूर्भुवः स्वः—तीनों लोक एकमात्र भगवान्में ही वर्तमान हैं। वृक्षके किसी एक स्थान-को स्पर्श कर लेनेसे जिस प्रकार समग्र वृक्षको स्पर्श करना हो जाता है, उसी प्रकार जब हम भूलोकमें निवास करते हैं, तब भी भुवर्लोक और स्वर्लोकको स्पर्श किये हुए हैं और मृत्युके पश्चात् जब हम स्वर्लोकमें रहेंगे तब हमें उसी ब्रह्म-वृक्षमें ही आश्रय मिलेगा और उस समय भी उसी भूर्भुवर्लोकके साथ हमारा सम्बन्ध वैसा ही रहेगा। क्योंकि एक ही ब्रह्मके अन्दर वह भूर्भुवः और स्वर्लोक एक ही समयमें वर्तमान हैं। हम चाहे बङ्गालमें रहें अथवा पञ्जाबमें, इससे हमारे भारतवर्षमें रहनेमें जिस प्रकार कोई बाधा नहीं पड़ती, उसी प्रकार हम इहलोकमें रहें अथवा परलोकमें, हम उसी एक ब्रह्मलोकमें ही निवास कर रहे

सिद्धासन—

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत्॥

उपस्थके ऊपरी भागमें बाँयी एड़ी रखकर और बाँये पैरपर दाँयी एड़ी रखकर बैठनेका नाम ही सिद्धासन है।

हैं । अतएव किसी लोकके साथ हमारा आत्यन्तिक विच्छेद होनेकी सम्भावना नहीं है । अतः मृत्युसे भी डरनेका कोई कारण नहीं है । जिस प्रकार एक ही स्थानमें हम विचरण करते, सोते और जागते हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्मके अन्दर हम जन्म और मृत्युको आलिङ्गन किये हुए हैं । स्वरूपसे वास्तवमें हमारी सत्ताका कोई परिवर्तन नहीं होता । जन्म-मृत्यु भगवान्‌की दो भुजाओंकी भाँति हम सबको घेरे हुए हैं, उन्हीं त्रिलोक-प्रसविता प्रेममय परम देवताकी पूजनीय शक्तिका हम श्रद्धासहित प्रतिदिन ध्यान करें । हम सबकी ज्ञान-बुद्धिको वे ही प्रेरित करते हैं । हम जो कुछ करते अथवा सोचते हैं, सब उन्हींकी शक्ति है; अतएव किसी कर्मको करके, हम किस बातपर अहङ्कार करें ? वे ही तो सब कुछ कर रहे हैं । संसारके समस्त कर्मोंके वे ही तो एकमात्र कर्ता हैं । हमारे इस क्षुद्र अहंभावका अहङ्कार कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'हम' भी कुछ नहीं एवं 'हमारा' भी कुछ नहीं,'—'वे ही सब हैं एवं उन्हींका सब कुछ है,' यही ध्रुव सत्य है । 'अहं'-भाव ही आवरण है और वास्तवमें यही आत्माका बन्धन है । इस अहङ्कारने ही हमें ईश्वरसे अलग कर रक्खा है । यह अहङ्कार जबतक हमें घेरे रहेगा, तबतक एक दुःखसे दूसरे गभीरतर दुःखमें, एक शोकसे दूसरे नये-नये शोकोंमें, एक मृत्युसे पुनः-पुनः मृत्युमें हमें भटकते रहना पड़ेगा, हमारी अशान्ति किसी प्रकार भी नहीं मिटेगी और न इस हाहाकारका ही अन्त होगा । इस पर्देको हटाते ही पृथ्वीके समस्त सम्बन्ध, समस्त संयोग-वियोग स्वाभाविक हो जायँगे । फिर यथार्थ सत्य प्रकट हो जायगा । तभी हम समझ

सकेंगे कि भगवान्‌से हमारा न तो कभी कोई विच्छेद हुआ और न भविष्यत्‌में कभी कोई विच्छेद होनेकी सम्भावना ही है ।

यह केवल कल्पना नहीं है । भगवान्‌के साथ यथार्थ ही हमारे हृदयका योग विद्यमान है और उनके साथ प्रेमका आदान-प्रदान भी निरन्तर चल रहा है । भगवान् जीवोंके ऊपर निरन्तर करुणाकी वर्षा करते रहते हैं, भक्तको सदा-सर्वदा अपनी ओर आकर्षित किये रखते हैं । भक्त भी प्रेम-विह्वल-चित्तसे अपने मन, प्राण जीवननाथकी सेवामें लगाये रखता है । जीवको स्नेह करनेमें जिस प्रकार ईश्वरकी सार्थकता है, उसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति करनेसे भक्तजीवनकी पूर्णता होती है । हम उन्हींकी शक्तिसे उनका ध्यान करते हैं और वे ही हमारी बुद्धिका परिचालन करते हैं ।

प्रतिदिन ऐसी धारणा करना उचित है कि भूर्भुवः स्वः ही मेरा निकेतन (घर) है और मैं उसीमें निवास करता हूँ । इस विश्वब्रह्माण्डरूपी गृहका मैं भी एक परिजन हूँ । जिन्होंने विश्व-ब्रह्माण्डको प्रकट किया है उन्होंने ही मुझे भी प्रकट किया है । यह भावना हमारे अस्तित्वको एक महान् गौरवसे गौरवान्वित करती है । इस अवस्थामें नीचता, स्वार्थपरता आदि हेय प्रवृत्तियों-को त्याग करनेका आग्रह सहज ही उत्पन्न हो जाता है । फिर जीवके साथ जीवके सम्बन्धको अवहेलनाके साथ देखनेकी प्रवृत्ति नहीं होती; परस्पर एक मधुर सम्बन्धके उपलब्ध करनेकी आकुलता हमारे सारे जीवनको मधुमय बना देती है । हमारे लोभ, अभिमान, और क्षुद्र अहङ्कारने ही हमें समस्त लोकोंसे अलग कर रक्खा

है; इसीलिये हम सबके अन्दर जो एक यथार्थ सत्य सम्बन्ध है, उसे हम बिल्कुल नहीं देख पाते। यह अवश्य ही हमारी बुद्धिकी मलिनता है, किन्तु यदि हम इस मलिनताको न धो सके तो हमारे समस्त जीवनका पर्यवसान एक महान् व्यर्थतामें हो जायगा। हम उच्च जातिके हों अथवा नीच जातिके, पण्डित हों अथवा मूर्ख, धनी हों अथवा दरिद्र, मुक्त हों अथवा बद्ध, किन्तु हम सब एक हैं, हम सब एकके हैं, इसे उपलब्ध करना ही हमारी आर्य-साधन-उपासनाका एकमात्र उद्देश्य है। इसी-लिये साधनाका एकमात्र पवित्र और श्रेष्ठ मन्त्र गायत्री है। यह धारणा जब स्थिर हो जायगी, जब इसमें कोई विकार नहीं रह जायगा, तभी हम उनके दर्शन कर सकेंगे और तभी हम उनके पदकमल-निःसृत अमृतके द्वारा संशयरूप मृत्युको अतिक्रमण कर सकेंगे। कठोपनिषद्में कहा है—

> 'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
> य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।'

वे संशयरहित बुद्धिद्वारा हृदयमें दीखते हैं। उनको पहचानने-पर अमरत्वकी प्राप्ति होती है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि गायत्री-छन्दमें हम उनकी जिस शक्तिका ध्यान करते हैं, वह शक्ति क्या है? भगवान्‌की शक्तिका अर्थ, भगवान् हमारे निकट जिस रूपमें प्रकट होते हैं, वही समझना होगा। वे हमारे समीप सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रके रूपमें; अग्नि, जल, वायु, व्योमके रूपमें; जनक-

जननी, आचार्य, सखा, बन्धु-सुहृद्के रूपमें; शत्रु-मित्र, पुत्र-कन्या, पति-पत्नीके रूपमें; राजा-प्रजा, प्रभु-भृत्य, गुरु-शिष्यके रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं; शोभा-माधुर्य, आनन्द-ऐश्वर्य, विद्या-ज्ञान, जन्म-मरण, प्रकाश-अन्धकार, सुख-दुःख, सम्पद्-विपद् नाना प्रकारके विचित्र भावोंमें हमारे सामने वे प्रकट होते हैं। '*यत्किञ्च जगत्यां जगत्*' जो कुछ है सब उनका प्रकाश है। तथापि ध्यानकी सुगमताके लिये हम विशेष रूप अथवा प्रकाशका अवलम्बन कर सकते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीताका दशम अध्याय 'विभूति-योग' देखने योग्य है।

६. **प्रत्याहार**—धारणाकी पहली सीढ़ी प्रत्याहार है। आसनपर स्थिरभावसे बैठकर एक-एक करके सभी बाहरी चिन्तनोंसे और बाहरी विषयोंसे मनको हटाकर एक जगह एकत्र कर लेना प्रत्याहार है। बाहरी कार्योंके साथ मनका जो संयोग है, उसे शिथिल कर देना होगा, एवं आँखें मूँदकर मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ, संसारकी कोई वस्तु मेरी नहीं है, शरीर-धन, गृह-परिजन, विद्या-ख्याति, सुख-दुःख, लाभ-हानि इन सबसे आत्मा पृथक् है, इनमेंसे कोई भी आत्माको स्पर्श नहीं कर सकते—इस भावकी दृढ़ रूपसे धारणा कर लेनी पड़ेगी।

७. जप—

'मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यञ्च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वताञ्चैव विनिपातो न विद्यते॥'

(मनु०)

सदाचारयुक्त नित्य संयतात्मा जप-होम करनेवाले मनुष्यका विनाश नहीं होता ।

धारणाको दृढ़ एवं मनको अन्तर्मुखी अथवा ध्यानमें निविष्ट करनेके लिये जप एवं अभ्यासकी आवश्यकता होती है । सभी देश, सभी शास्त्र और सभी महात्माओंने जप और अभ्यासके अवलम्बन करनेका उपदेश दिया है । मन्त्रका अर्थ समझकर जप करनेसे,—भगवान्के प्रति जो आत्म-निवेदन किया जाता है, प्रत्येक मन्त्रके साथ उसे स्मरण रखनेसे, प्राणोंको शान्ति और आनन्द मिलता है । इसी प्रकारसे मन्त्र चैतन्य होता है । आजकल हमारे देशमें अनेक लोग तन्त्रोक्त शक्तिविषयक मन्त्रादिका जप किया करते हैं । इन सब मन्त्रोंका भी विधिपूर्वक जप करनेसे, साधकके सामने मन्त्रोंकी अपूर्व शक्ति प्रकट होती है । परन्तु प्राचीन कालमें ब्रह्मगायत्री और प्रणव (ॐ) जपकी विधि ही दीख पड़ती है । पूज्यपाद ऋषियोंने जिस पथका अवलम्बन किया था, वही आर्य और प्राचीन पथ है । अतः मैं यहाँ उसी मार्गकी बात कहूँगा । इसके लिये मनुसंहिताको ही मैं आदर्श-रूपमें ग्रहण करता हूँ । महर्षि मनुने कहा है—

'एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥२।७८॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥
एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥८०॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥८२॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥८३॥
क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः।
अक्षरस्त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥
जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥'

इस प्रणव और भूर्भुवः स्वः इस व्याहृतिपूर्विका त्रिपदा गायत्री-का जप जो वेदज्ञ ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकालमें एकाग्र मनसे करते हैं, वे सम्पूर्ण वेदाध्ययनके पुण्यको प्राप्त करते हैं ॥ ७८ ॥ जो द्विज प्रतिदिन प्रणव, व्याहृति और त्रिपदा गायत्री इन तीनोंका सहस्र वार जप करते हैं, वे एक मासमें समस्त पापोंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाते हैं जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुलसे छूट जाता है ॥७९॥ जो द्विज इस सावित्रीरूप ऋक्से अलग हैं अथवा यथासमय अपने अनुष्ठान आदिसे च्युत होते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा

वैश्य साधु-समाजमें निन्दाके पात्र हैं ॥ ८० ॥ इन तीनों प्रणव-पूर्वक अव्यय महाव्याहृति एवं त्रिपदा गायत्रीको ब्रह्मप्राप्तिका एकमात्र उपाय जानना चाहिये ॥ ८१ ॥ जो प्रतिदिन आलस्य-रहित होकर तीन वर्षपर्यन्त प्रणव और व्याहृतियुक्त त्रिपदा गायत्रीका जप करते हैं, वे परम ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। वायुके समान वे यथेच्छ विचरण कर सकते हैं और आकाशके समान सर्वव्यापी होकर भी निर्लिप्त रहते हैं ॥ ८२ ॥ एकाक्षर प्रणव ही परम ब्रह्म है, प्राणायाम ही परम तपस्या है; सावित्रीसे परे और मन्त्र नहीं है तथा मौनसे सत्य ही श्रेष्ठ है ॥८३॥ वैदिक होम-यागादि सभी क्रियाएँ समय पाकर नाशको प्राप्त होती हैं, किन्तु प्रणवाक्षर अक्षय है, यही प्रजापति ब्रह्मस्वरूप है ॥८४॥ वेदविहित यज्ञादि-की अपेक्षा जप-यज्ञ दशगुणा शुभप्रद है, जप-यज्ञमें उपांशु-जप (जो जप धीरे-धीरे किया जाता है) शतगुणा फलप्रद है, एवं उपांशु-जपसे मानस-जप सहस्रगुणा शुभप्रद है ॥ ८५ ॥ देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ एवं पितृयज्ञ नामक जो चार महायज्ञ हैं, उनके साथ यदि दर्श-पौर्णमासादि सम्पूर्ण वेदविहित यज्ञोंका योग किया जाय, तो भी इनका सम्पूर्ण पुण्यफल ब्रह्मयज्ञरूप जपयज्ञ-के सोलहवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता ॥८६॥ ज्योतिष्टो-मादि या और कोई वैदिक कर्म करें अथवा न करें, केवलमात्र जपबलसे ब्राह्मण सिद्धि-लाभ कर सकते हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। ब्राह्मण सर्वभूतोंके मित्र हैं ॥८७॥

जो सर्वत्र वैराग्यबुद्धिद्वारा अपनेको परिचालित करते हैं वे ही

सर्वभूतोंके मित्र हो सकते हैं। अपना स्वार्थ याद रखनेपर परोपकार नहीं हो सकता। अपनेको भूल जानेका नाम ही वैराग्य है। गायत्री-जपके द्वारा सर्वभूतोंमें आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि होनेपर अपने-परायेका कोई भेद नहीं रह जाता। गायत्री-जपके द्वारा ऐसे महान् कल्याणकी प्राप्ति होती है, इसीलिये इस जपके समान महत्तर यज्ञ और कोई नहीं है।

एकाग्रचित्त होकर श्रद्धापूर्वक जप न करनेसे कोई फल प्राप्त नहीं होता। श्रद्धासहित जप करनेसे चित्त पापशून्य होता है और ऐसे ही चित्तसे भगवान्के प्रकाशका अनुभव किया जाता है। श्रद्धासहित भगवान्के किसी नामसे और दीक्षित मनुष्यके लिये अपने इष्ट मन्त्रके जपसे मनकी एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है। मन्त्रार्थको जानकर ही जप करनेका नियम है। जपके समय अन्य किसी प्रकारका चिन्तन मनमें न आने देनेसे मन्त्र शीघ्र ही चैतन्य होता है एवं जपका वास्तविक फल प्राप्त होता है।

दूसरा अध्याय

चित्तकी स्थिरता एवं उसके विघ्न

मन स्वभावसे ही चञ्चल और दृढ़ है, उसे वशमें करना बहुत सहज काम नहीं है। पहले-पहले तो बैठते ही मनमें संसार-राज्यकी स्फुरणाएँ आ घुसेंगी, अन्य समयमें इधर-उधरकी व्यर्थ स्फुरणाएँ उत्पन्न होकर मनको उतना विक्षिप्त नहीं बनातीं, चित्त स्थिर करनेके लिये बैठनेपर वे सब तरङ्गाकारमें आकर मनपर छा जाती हैं। उस समय वास्तवमें ही चित्त स्थिर करना असम्भव-सा प्रतीत होने लगता है। मन कितना दृढ़ और दुर्द्धर्ष है और उसके ऊपर संस्कारोंका कितना प्रबल आधिपत्य है, यह उसी समय ज्ञात होता है। पहले तो प्रायः निराश ही हो जाना पड़ता है। यहाँतक कि जी ऊबने लगता है। क्योंकि चित्तके स्थिर होनेका जो आनन्द है, अभीतक उसका तो दर्शन

हुआ नहीं, उलटे चञ्चलताकी चपेटसे प्राण ऊबने लगते हैं और मनके साथ इस प्रकारका युद्ध एक नीरस साधना-सी जान पड़ती है। प्रथम शिक्षार्थी इस प्रकारके युद्धसे कहीं हट न जाय, इसी-लिये उन्हें सावधान किया जाता है, जिसमें वे निराश न हों।

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥'
(गीता १८।४८)

धुएँसे भरी हुई आगकी भाँति सभी कर्मोंके प्रारम्भमें कुछ-न-कुछ दोष रहता ही है। अतएव डरनेसे काम नहीं चलेगा। झाड़ूसे जब हम किसी स्थानको साफ करते हैं, तब वह स्थान पहले और भी अधिक धूलसे भरता हुआ-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार मनसे समस्त संस्कारगत चिन्ताओंका कूड़ा निकाल फेंकते समय पहले मन और भी अस्थिर और अस्वच्छ प्रतीत हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है?

ऐसे समय क्या करना चाहिये? प्रत्येक शुभकामी मनुष्य साधनाभ्यासके पहले ही मनमें यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें कि व्यर्थ चिन्ता अथवा मिथ्या-सङ्कल्पको मनमें किसी तरह नहीं आने दूँगा। इसके बाद यह विचार करें कि रात-दिन तो हम संसारका चिन्तन करते ही हैं, उसमेंसे यह बहुत ही थोड़ा-सा समय भगवच्चिन्तनमें लगाते हैं, यह समय व्यर्थ न जाय, इस विषयकी ओर हमें विशेषरूपसे सावधान रहना होगा। भगवच्चिन्तनके लिये केवल यही जरा-सा समय है, इस समय तो ईश्वर-स्मरणको छोड़कर अन्य किसी बातको मनमें आने देना

किसी तरह भी उचित नहीं। इस विषयमें अपनेको खूब दृढ़ बनाना होगा।

निश्चय ही पूर्ण चेष्टा, पूर्ण दृढ़ता होनेपर भी न जाने कितनी बार चेष्टा व्यर्थ होगी। मनमें अनेक सङ्कल्प-विकल्प आ उपस्थित होंगे। जिन बातोंको तुमने बिल्कुल नहीं सोचनेका सङ्कल्प किया था तुम्हारी बेजानकारीमें वही सब चिन्ताएँ आ जायँगी और तुम्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होगा कि तुम उन्हींमें डूबे हुए हो। इस रोगकी एकमात्र दवा यही है कि जब तुम्हें होश हो, तभी इन सारी चिन्ताओंको जोरसे हटा दो। इनसे कहो 'निकलो यहाँसे, दूर हो यहाँसे।'

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥'

(गीता ६। २६)

स्वभावसे ही चञ्चल और अस्थिर यह मन जब अभ्यासवश एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर दौड़े तब उस-उस विषयसे लौटाकर इसे आत्मामें ही स्थिर करो।

इसके समान और कोई औषध नहीं है। किन्तु इसके लिये बहुत बड़ा धैर्य चाहिये और भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये अन्तरात्माका तीव्र आग्रह होना चाहिये। मनके ऊपर विजय प्राप्त करना कठिन है, इसीलिये तो कहा जाता है कि मनके ऊपर आधिपत्यके बराबर दूसरा कोई आधिपत्य ही नहीं है। स्वामी

शङ्कराचार्यने कहा है—'*जितं जगत् केन, मनो हि येन*' 'समस्त जगत्पर किसने विजय प्राप्त किया है? जिसने मनपर विजय प्राप्त किया है।' अर्जुनने भी मनको स्थिर करना असाध्य समझकर कातरकण्ठसे भगवान्‌से अपनी असमर्थता जनायी थी। किन्तु जगद्‌गुरु करुणामय श्रीकृष्णने क्या उत्तर दिया था—

'असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते॥'
(गीता ६।३५)

मन दुर्निग्रह और चञ्चल है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इस मनको वशमें किया जाता है।

इतने बड़े भरोसेकी बात और क्या हो सकती है? इसके अनन्तर भगवान्‌ने जो कुछ कहा है, वह भी स्मरण रखने योग्य है—

'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥'
(गीता ६।३६)

जिनका चित्त संयत नहीं है, ऐसे व्यक्तियोंके लिये 'योग' दुष्प्राप्य है, यह मेरा मत है। किन्तु संयतचित्त व्यक्ति प्रयत्न करनेपर 'योग' को प्राप्त कर सकते हैं।

चित्तवृत्ति और उसका निरोध—महर्षि पतञ्जलि 'योग' के स्वरूप-लक्षणका निर्देश करते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

चित्तवृत्तिके निरोधका नाम 'योग' है। पहले देखना चाहिये कि चित्त चञ्चल होकर जीवको सुख-दुःख एवं मोहादिसे आच्छन्न क्यों करता है? गीतामें कहा है—

'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥'
(१४।५)

हे महाबाहो! सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होकर देहस्थित निर्विकार देहीको (सुख-दुःख-मोहादिसे) आबद्ध करते हैं।

'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥'
(गीता १४।१०)

हे भारत! कभी रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण; कभी सत्त्वगुण और तमोगुणको पराभूत करके रजोगुण और कभी सत्त्वगुण एवं रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है।

मनमें यह देवासुर-संग्राम बिना विश्राम मचा ही रहता है। प्रकृतिकी इस त्रिगुणजात विविध अवस्थासे चित्त जबतक विमुक्त नहीं किया जा सकता, तबतक शान्ति प्राप्त करनेकी आशा विडम्बनामात्र है।

इस चित्तकी संकल्प-विकल्पात्मक विविध अवस्थाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलिने उसे पाँच भागोंमें विभक्त किया है। (१) 'क्षिप्त'—

रजोगुणकी अधिकतासे चित्त जब अत्यन्त चञ्चल होता है। (२) 'मूढ़'—तमोगुणकी प्रबलतासे चित्त जब मोहाच्छन्न एवं निर्वेद अवस्थाको प्राप्त करता है अर्थात् आलस्य और जडतासे भर जाता है। (३) 'विक्षिप्त'—चित्तको स्थिर करते समय जो अस्थिरता दीख पड़ती है। (४) 'एकाग्र'—सत्त्वगुणके बढ़ जानेसे जब ध्येय वस्तुमें चित्तका एकतार प्रवाह होता है। (५) 'निरुद्ध'—चित्त जब सङ्कल्प-विकल्परहित होकर एक अनिर्वचनीय स्थिर अवस्थाको प्राप्त करता है।

क्षिप्त और मूढ़ चित्तसे 'योग' की प्राप्ति नहीं होती। जो संसारकी आसक्तिका भी त्याग नहीं कर सकते और भगवान्‌को भी चाहते हैं उनके चित्तकी अवस्थाका नाम विक्षिप्त है। इस 'विक्षिप्त' अवस्थाको ही चेष्टा और साधनके द्वारा 'एकाग्र' और 'निरुद्ध' करना होगा।

चित्तवृत्तियाँ भी पाँच हैं—प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम); विपर्यय (मिथ्या ज्ञान); विकल्प (वस्तुका अस्तित्व न होनेपर भी कल्पनाके द्वारा उस वस्तुका अनुभव करनेवाली वृत्ति); निद्रा और स्मृति। इन चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यकी साधना करनी होगी।

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'

अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी यही कहा है। अभ्यासके द्वारा क्या नहीं होता? जो दुःसाध्य है वही सुसाध्य हो जाता है। जो अत्यन्त

कठिन है वही पीछेसे बड़ा आसान प्रतीत होने लगता है। अभ्यास-की शक्ति तो देखिये? हम अपना चित्त स्थिर नहीं कर पाते, यह भी तो अभ्यासका ही फल है। न जाने कितने संस्कार, कितने अभ्यास बोझके समान मनको दबाये रहते हैं, उस बोझको उतारे बिना गति नहीं है। यद्यपि मनको स्थिर करना सहज नहीं है, तथापि चाहे जैसे भी उसे स्थिर करना ही होगा। मनको स्थिर करनेका अभ्यास किये बिना हमें कोई सहारा न मिलेगा। जैसे चञ्चल जलमें हमारा रूप विकृत दीख पड़ता है, वैसे ही चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता।

स्थिर जलमें जिस प्रकार प्रतिबिम्ब ठीक दीख पड़ता है, उसी प्रकार स्थिर मनमें आत्माका अविकृत स्वरूप स्पष्ट हो उठता है। इसीलिये स्थिर मनको योगशास्त्रमें आत्मा कहा गया है। जिन्होंने यह स्थिर अवस्था प्राप्त कर ली है वे ही भगवान्‌का नित्य प्रसन्न, प्रफुल्ल मुखारविन्द देखकर अपने जन्म-जीवनको सार्थक कर सके हैं। जिन्होंने एक दिनके लिये भी इस रसास्वादनका सौभाग्य प्राप्त किया है, उन्हें अन्य कोई भी सुख सुख-रूप नहीं जान पड़ता—दूसरा कोई भी लाभ लाभ-रूप नहीं दीख पड़ता।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥'

(गीता ६। २२-२३)

योगी जिस अवस्थामें दूसरे लाभको उसकी अपेक्षा अधिक नहीं समझता और जिस अवस्थामें महादुःखसे भी विचलित नहीं होता, उसी अवस्थाका नाम योग है। इसी अवस्थाविशेषको सुख-दुःखके सम्पर्कसे शून्य योग्यशब्दवाच्य समझो। निर्वेदरहित चित्तके द्वारा निश्चय ही उस योगका अभ्यास करो।

इन दो श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्णने योगयुक्तकी अवस्थाका वर्णन किया है। योगाभ्यासके द्वारा एक अनिर्वचनीय, अतीन्द्रिय भूमानन्द अवस्थाकी प्राप्ति होती है—जिस अवस्थामें संसारका अन्य कोई भी सुख सुख-रूप नहीं जान पड़ता। परन्तु जबतक इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, तबतक क्या किया जाय? अभ्यास और वैराग्यका साधन। वैराग्य-बुद्धिके द्वारा विषयादिमें अत्यन्त आसक्त न होकर चरित्र-संशोधनका अभ्यास किये जाने-पर आलस्य, अश्रद्धा, विषयासक्ति क्रमशः आप ही क्षीण हो जायँगी। धर्मकी प्राप्तिके लिये चरित्रवान् होना अनिवार्य है। बुरे विषयोंमें वैराग्य और सद्विषयोंके दृढ़ अभ्यासद्वारा ही चरित्र-बल प्राप्त होता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

तीसरा अध्याय

अष्टाङ्ग-योग

महर्षि पतञ्जलिके मतानुसार योगके आठ अङ्ग हैं—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।'

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योगके ये ही आठ अङ्ग हैं ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य (वीर्य-धारण), अपरिग्रह (भोग करनेके लिये किसी विषयका ग्रहण न करना),—इनका नाम 'यम' है। शौच (भीतर और बाहरकी निर्मलता), सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, इनका नाम नियम है। सिद्धासन, पद्मासन प्रभृतिका नाम आसन है। प्राणवायुके संयमका नाम प्राणायाम है । इन्द्रियनिरोधका नाम प्रत्याहार है। चित्तको एक देशमें धारण करने या बाँध देनेको धारणा कहते हैं। चित्तवृत्तिके एक ही ओर प्रवाहित होनेका नाम ध्यान है। ध्यान करते-करते चित्त जब ध्येयाकारमें ही परिणत हो जाता है, तब उस अवस्थाको समाधि कहते हैं।

प्राणायाम और मन्त्रयोग—मनको सङ्कल्पशून्य किये बिना चित्त भलीभाँति शान्त नहीं होता । परन्तु बहुधा मनको

सङ्कल्पशून्य करनेके अभ्यासमें इतना समय लगता है कि जिससे हमारे धैर्य छूटनेकी सम्भावना है। इसीलिये योगीगण मन्त्र-जप और कोई-कोई प्राणायामके अभ्यास करनेका आदेश देते हैं। जपमें भी मनको लगाते-लगाते वह खूब संयत और सङ्कल्प-विकल्प-रहित हो जाता है। प्राणायामसे भी ठीक यही होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—'*योगः कर्मसु कौशलम् ।*' कर्मोंमें कुशलता ही योग है। यह बड़ी पक्की बात है। अत्र यह देखना चाहिये कि सुकौशल कर्म क्या है। जो कर्म कुशलताके साथ किया जाता है, वही सुकौशल कर्म है एवं उसीसे कर्म-सिद्धि होती है। यदि किसी विषयमें सफलता प्राप्त करना हो तो उसके प्रति समस्त चेष्टाओंको एकाग्र कर देना होगा, अन्यथा किसी काममें सफलता न मिलेगी। यदि हम परमात्माके साथ अपने मन-का योग स्थापित करना चाहें तो हमें अपनी समस्त चेष्टाओंको ईश्वरमुखी कर देना पड़ेगा। मनको ईश्वराभिमुखी करनेके अनेक उपाय गीतामें कहे गये हैं। उनमें प्राणायामका भी उल्लेख है।

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥'

(गीता ४। २९)

दूसरे कोई अपान वायुको प्राणवायुमें होम करते हैं और कोई प्राण एवं अपानकी गति रोककर प्राणायामपरायण होते हैं।

पातञ्जलदर्शनमें कहा है—

'प्रच्छर्द्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।'

प्राणके निःसारण (बाहर फेंकने) और विधारण (भीतर खींचने) के द्वारा भी चित्त स्थिर किया जा सकता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे देशमें एक समय प्रायः सभीने इस उपायका अवलम्बन किया था। महाभारतमें, भागवतमें एवं अन्यान्य पुराणों, यहाँतक कि उपनिषदादिमें भी इस प्राणायामका यथेष्ट उपदेश मिलता है। तन्त्रोंमें तो इसका वर्णन भरा ही पड़ा है।

प्राणायाम क्या है ? साधारणतः श्वास-प्रश्वासकी गति रुद्ध करनेके कौशलका नाम ही प्राणायाम है। प्राणायाम एक वैज्ञानिक उपाय है, इसीलिये विद्वत्समाजमें भी इसको यथेष्ट आदर-सम्मान प्राप्त हुआ है।

विशेष-विशेष कर्म और विशेष-विशेष चिन्ताओंके साथ श्वास-प्रश्वासका भी परिवर्तन होता है। ऋषियोंने इस बातको देखा था कि यदि किसी उपायसे श्वास-प्रश्वास हठात् बन्द हो जाता है, तो उसके साथ ही मनकी चञ्चलता भी दूर हो जाती है। इसीलिये उन्होंने निश्चय किया कि श्वास-प्रश्वास चलता है इसीलिये मन भी चञ्चल है; यदि हम किसी उपायसे इस श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोककर जीवित रह सकें तो उस अवस्थामें जीवनकालमें ही मन स्थिर किया जा सकेगा।

'चले वाते चलच्चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।'

प्राणवायु चञ्चल है अतः चित्त भी चञ्चल है, प्राणवायुके निश्चल करनेसे चित्त भी निश्चल हो जाता है। मनीषिगण परीक्षा करके देख चुके हैं कि जो प्राणी स्वभावसे जितना कम

चञ्चल है, उसके श्वास-प्रश्वासकी चञ्चलता भी उतने ही परिमाणमें कम है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह देखा कि यह श्वास-प्रश्वास जन्मसे ही हमारे जीवनका साथी है, एवं हम जिसे मृत्यु कहते हैं वह भी इसी श्वास-प्रश्वासकी गतिके रुकनेपर ही होती है। श्वास-प्रश्वासके समान हमारा और कोई नित्यका साथी नहीं है। विद्या, ज्ञान, मेधा अथवा अर्थ-शक्ति, इनमेंसे किसीको हम न तो अपने साथ लाते हैं और जब मृत्यु आकर हमपर आक्रमण करेगी, तब न ये सब हमारे किसी खास काममें ही आयँगे। परन्तु यह निःश्वास जीवनके पहले दिनसे लेकर मरणपर्यन्त सभी अवस्थामें हमारे साथ ही रहता है और रहेगा। शरीर, रूप, यौवन सब मलिन हो जाते हैं, सबका ध्वंस हो जाता है; परन्तु इसका कोई परिवर्तन अथवा ध्वंस नहीं है, वह सदा एक ही रूपसे चलता रहता है। जगत्की समस्त नश्वरतामें इसका एक आश्चर्य-युक्त अविनश्वर भाव देखकर इसीको उन्होंने भगवान्के समीप पहुँचनेका एक श्रेष्ठ पथ समझा था। श्वासका जिस स्थानमें लय हो जाता है, उसी स्थानको उन्होंने निर्मल ब्रह्मस्थान, अथवा किन्हीं-किन्हींने विष्णुका परम पद कहकर निर्देश किया है।

'निष्कलं तं विजानीयात् श्वासो यत्र लयं गतः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥'

वास्तवमें श्वास-प्रश्वास ही हमारे लिये नित्य-अवलम्बन एवं नित्य-आश्रयस्वरूप है। श्वास निकलनेके साथ ही हमारा सब कुछ चला जाता है। श्वास ही हमारा एकमात्र संबल है।

योगीश्वरोंने कहा है, श्वासके बाहर निकलनेके लिये हमारा चित्त चञ्चल एवं विक्षिप्त होता है और इसी विक्षिप्त चित्तमें संसारकी विचित्र वासनाएँ जाग उठती हैं। विक्षिप्त चित्त ही समस्त संशयों-का आश्रय है इसीलिये उन्होंने कहा है कि यदि श्वासका बाहर जाना-आना रोक दिया जाय, तो मुक्ति हमें हस्तामलककी नाईं मिल जायगी। कोई कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, प्राणवायुके यातायातकी गति रोके बिना वासना और विक्षेपके चंगुलसे छूटना बहुत कठिन है।

'हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।' चित्तवृत्तिके प्रवाहमें दो ही कारण हैं। पहला वासना अथवा भावनामय संस्कार और दूसरा प्राण-प्रवाह। इनमेंसे एकके नष्ट होनेपर चित्तसहित दूसरा संस्कार भी विनष्ट हो जाता है। *'पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते'*—वायुके स्थिर होते ही मन भी स्थिर हो जाता है। योगवाशिष्ठमें कहा है—

द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥

यह मन और प्राणोंका प्रवाह जबतक वर्तमान रहेगा, तब-तक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होना असम्भव है। योगशास्त्रमें लिखा है—

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्।

सिद्ध भक्त महात्मा कबीरने कहा है—*'साँस साँस सुमिरन करो और उपाय कछु नाहिं।'* योगी याज्ञवल्क्यने कहा है—*'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।'* स्कन्दपुराणमें लिखा है—

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति॥

आत्मज्ञानके द्वारा मुक्ति मिलती है सही, परन्तु योगाभ्यासके बिना वह आत्मज्ञान प्राप्त ही नहीं होता। फिर दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करनेसे तब कहीं योगसिद्धिकी प्राप्ति होती है। वशिष्ठदेव श्रीरामचन्द्रसे कहते हैं—

'दुःसहा राम संसारविषवेगविसूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥'

हे राम! इस संसारकी विषवेगविसूचिका बड़ी ही दुःसह है, परम पावन योगाभ्यासरूप गारुड-मन्त्रके द्वारा ही केवल उसका उपशम होता है। मनु भगवान् कहते हैं—

'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥'

अग्निद्वारा तपाये जानेपर जिस प्रकार सब धातुओंका मल दूर होता है, उसी प्रकार प्राणायामके द्वारा प्राणवायुका निग्रह करनेपर इन्द्रियोंके समस्त दोष दग्ध हो जाते हैं। योगाभ्यासकी प्रधान साधना ही प्राणायाम है।

योगशास्त्रमें प्राणायामके सम्बन्धमें अनेक उपदेश मिलते हैं, परन्तु वे सब बड़े ही कठिन हैं और उनके साधनमें उपर्युक्त दक्ष गुरुकी सहायता आवश्यक है। यहाँतक देखा गया है कि बिना जाने देखादेखी प्राणायामके अभ्यासकी चेष्टा करनेवाले बहुत-से लोग अज्ञतावश दुःसाध्य रोगोंके शिकार हो गये हैं। इन सब साधनोंमें जिन नियमों एवं उपायोंका अवलम्बन आवश्यक है, इस

युगमें उनका पालन अनेक कारणोंसे एक प्रकारसे असाध्य हो गया है। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि इन्द्रियोंकी चञ्चलता और मनको संयत किये बिना चित्तको ईश्वराभिमुख करना नितान्त ही असम्भव है। योगाभ्यासके लिये बड़े ही कठोर आत्मसंयमकी आवश्यकता है। आहार-विहारके सम्बन्धमें भी अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। इस विषयकी आलोचना आगे चलकर की जायगी। इन सब विषयोंमें अनुभवी गुरुकी सहायता ले लेना ही बुद्धिमानोंका कर्तव्य है। श्वास-प्रश्वासको रोकनेका जो अत्यन्त सहज और आशङ्काशून्य उपाय है उसे हम लिख रहे हैं, जिनकी इच्छा हो वे अभ्यास करके देख सकते हैं। पद्मासनसे बैठकर मेरुदण्डको सीधा रखकर श्वास-प्रश्वासके लगातार आने-जानेकी गतिकी ओर विशेष मन लगाकर देखता रहे और मन-ही-मन श्वास-प्रश्वासके साथ किसी मन्त्रका जप करे। श्वास-प्रश्वास-का जो आवागमन होता है उसकी ओर लक्ष्य रखनेपर मन अनायास ही स्थिर होता है। यह अभ्यास बैठे, उठे, चलते, सोते, प्रत्येक अवस्थाओंमें किया जा सकता है, इसमें श्वास-प्रश्वास-को ज़ोर-ज़ोरसे खींचने और निकालनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं होती। हाँ, मनको अवश्य लगाना चाहिये।

महर्षि पतञ्जलिने चित्तविक्षेप दूर करनेका एक और भी उपाय बताया है—*'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।'*—चित्तके किसी एक निश्चयके बारम्बार अनुभव करनेका नाम ही 'एकतत्त्वा-भ्यास' है। यह ध्येय पदार्थ ईश्वर अथवा उनकी कोई मूर्ति हो तो बहुत ही उत्तम है। कोई एक स्थूल वस्तु भी हो सकती है।

भगवन्नामकीर्तन भी हो सकता है। चित्तविक्षेपको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना होगा। किसी एक वस्तु अथवा मूर्तिको एकदृष्टिसे ताकते रहनेका अभ्यास—जबतक पलक न पड़े अथवा आँखोंसे पानी न निकले, तबतक लक्ष्य-वस्तुकी ओर ताकता ही रहे। उस वस्तु या चिह्नको कुछ कुछ दिन बीचमें छोड़कर छोटा करते रहना उत्तम है, इसी प्रकार करते-करते क्रमशः चिह्नको बिल्कुल मिटा देना चाहिये। '*दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्।*' अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर हो, ऐसी स्थितिमें चित्तविक्षेप नहीं रहता। इसी प्रकार प्रतिदिन दो बार आध-आध घण्टे अभ्यास करनेपर आशातीत सफलता प्राप्त होती है। अवश्य ही जो जितना अधिक समय लगा सकेंगे, उनके लिये चित्त स्थिर करना उतना ही सुगम होगा। एकतत्त्वाभ्यासके अवलम्बनकी वस्तुओंमें ईश्वरभाव या अहं द्रष्टा अथवा ज्ञाताभाव सर्वोत्तम है। ईश्वरसम्बन्धी किसी भाव अथवा उनके नाम-स्मरणसे भी चित्तकी स्थिरता प्राप्त होती है। चित्त-वृत्ति जो क्षण-क्षणमें उदित होती है, अपनेको उसका ज्ञाता या साक्षीरूप जाननेकी चेष्टा करने-पर भी विक्षेप दूर हो जाता है और चित्तप्रसादकी प्राप्ति होती है।

'प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।'

(मनु०)

प्राणायामके द्वारा इन्द्रिय-विकार आदि समस्त दोषोंको भस्म करना चाहिये; स्थान-विशेषमें चित्त-बन्धनरूप धारणाके द्वारा

समस्त पापोंका नाश करना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिके मतानुसार चित्त स्थिर करनेका एक और उपाय भी है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापीके प्रति यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा-भावनाके द्वारा चित्तप्रसादकी प्राप्ति होती है। अन्य व्यक्तिको सुखी देखकर हम कभी-कभी उससे डाह करते हैं, हमसे यदि कोई शत्रुताचरण करे तो उसकी दुःख-दुर्गति देखनेकी इच्छा होती है, एवं पापीके प्रति अतिशय घृणा का सञ्चार होता है। संसारमें रहनेपर यह सब बातें होती ही हैं और इनसे चित्त अत्यन्त विक्षिप्त होता है। अतएव सुखी पुरुषको देखकर यदि हम सुख पावें, दुःखीको देखकर यदि हमारे चित्तमें करुणाका उद्रेक हो, पुण्यात्माको देखकर यदि हमें आनन्द-लाभ हो, एवं पापीकी पाप-क्रियाके प्रति यदि हमारे मनमें उपेक्षा पैदा हो, तो चित्तविक्षेपके बहुत-से कारणोंका अत्यन्त अभाव हो जानेसे चित्त एकाग्र होकर स्थिर हो जायगा।

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।'

किसी वीतराग महापुरुषके तरङ्गहीन सहज निश्चित भावको हृदयङ्गम करके अपने मनमें पुनः-पुनः उसकी धारणा करनेकी चेष्टासे भी चित्त स्थिर हो जाता है। अथवा—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

ईश्वर-प्रणिधानसे भी एकाग्रताकी प्राप्ति होती है। अर्थात् भक्ति-विशेषके द्वारा चित्तको ईश्वरमुखी करके, उनमें आत्मसमर्पण करनेपर भी चित्त निरुद्वेग और निश्चिन्त हो जाता है। हमारा

जो कुछ है सो सब भगवान्‌का है, हम उसी हृदयस्थ ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर कर्म करते हैं, वे ही हमारे सर्वस्व हैं, हमें अन्य किसी वस्तुसे प्रयोजन नहीं, अथवा हमारे सम्बन्धमें वे जो कल्याणकारी समझते हैं, उसीकी व्यवस्था करते हैं—इत्यादि भावोंमें स्थिर रह सकनेपर भी समाधि मिल जाती है। भक्तगण इसमें भी भगवान्‌की कृपाका ही अनुभव करते हैं। यहाँपर ईश्वरका अर्थ भगवान् अथवा भगवद्भक्त हो सकता है। *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'*—'ब्रह्मवित् ब्रह्मके ही समान हैं।' यह श्रुतिके वचन हैं। वास्तवमें भगवद्भक्तोंका ऐसा ही प्रभाव है कि उनका स्मरण करते-करते भी चित्त आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है और संसार-बन्धन टूट जाता है। भक्तकी कृपा हुए बिना भगवान् नहीं मिलते, इसी-लिये शास्त्रोंमें भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेका उपदेश है। वैष्णवगण भी इसीलिये श्रीमती राधिकाकी अन्तरङ्ग सखियोंमेंसे किसी एकको गुरुस्थानीया मानकर उनके कृष्णानुरागकी सहायतासे कृष्ण-भक्तिको प्राप्त करते थे। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे उद्धव, मेरे भक्तोंके जो भक्त हैं वे मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हैं।' सुतरां, भक्त और भक्तके नाथ उन जगदाधार विश्वपति भगवान्‌का भक्तियोगके द्वारा भजन करनेसे चित्तकी एकाग्रता हो जाती है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? विष्णुपुराणमें कहा है—

> प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः।
> वशीकृतैस्ततः कुर्यात् स्थिरं चेतः शुभाश्रये॥

'प्राणायामके द्वारा पवनको और प्रत्याहारके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको वशीभूत करके शुभाश्रय भगवान्‌में चित्तकी एकाग्रताका

सम्पादन करो ।' भगवान्‌का किस प्रकारसे चिन्तन करना चाहिये, इसका उपदेश श्रीमद्भागवतमें है—

'तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ॥
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥'

धारणाके अभ्यासके लिये भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका चिन्तन करके दृढ़ताके साथ समस्त मूर्तिमें चित्तको स्थिर करे, तत्पश्चात् मनसे भगवान्‌की मूर्तिको हटाकर चिन्तन-शून्य हो जाय । चिन्तन-शून्य चित्तकी प्रसन्नावस्था ही विष्णुका परमपद है । उसीसे चित्तको परम शान्ति प्राप्त होती है । उपर्युक्त प्रकारसे भी ईश्वर-प्रणिधान हो सकता है ।* (पातञ्जल देखिये)

---

* मूर्ति-पूजाका यही परम रहस्य है । 'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना' अन्यथा आर्य-ऋषिगण मूर्ति-पूजाकी व्यवस्था ही क्यों करते ?

अरूपसे ही जब रूपमय जगत्‌का उद्भव हुआ है तब रूपके द्वारा ही पुनः उस अरूपमें पहुँचा जा सकता है । दक्ष चित्रकार जिस प्रकार अपने मनोमय रूपको चित्रमें प्रतिफलित कर दिखाते हैं, उसी प्रकार यह निश्चय ही सम्भव है कि भक्तके हृदयमें भगवान्‌के असामान्य सौन्दर्यकी जो छाया आ पड़ती है, भक्त उसीको बाहर अङ्कितकर पूजा करते हैं । भीतर और बाहर दोनों ही ओर उनकी पूजा होनेपर पूजाकी पूर्णता होती है ।

चौथा अध्याय

योगशिक्षाकी विशेष आवश्यकता क्यों है ?

योगाभ्यासके द्वारा हम आत्माका आनन्दमय स्वरूप देख पाते हैं। दूधको मथनेसे जैसे नवनीत प्राप्त होता है, उसी प्रकार योगाभ्यासके द्वारा हम आत्माको देहसे पृथक् करके पहचान सकते हैं। इसीसे हम देहात्मबुद्धिकी कठिन बेड़ीसे छूट सकते हैं। योगाभ्यासके द्वारा आत्माका शुभ्र ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकाशित होता है। क्रमशः सब भूतोंमें अपने स्वरूपको देखकर 'आत्मा सर्वभूतस्थित है और सबके साथ अभिन्न है' इस चरम अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति होती है। भेदबुद्धिके नष्ट हो जानेपर एक अनिर्वचनीय आनन्दमय अवस्थाका साक्षात्कार होता है। यहाँ हमारे सारे जीवनकी अतृप्ति एक ही मुहूर्तमें लय हो जाती है, तदनन्तर ही प्रकृति-पुरुषके अधीश्वर पुरुषोत्तम नारायणके साथ जीवका

मिलन होता है । जीवात्मा अपने नित्य-सखा, नित्य-प्रिय परमात्मा-के दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है । यह जो इष्टके साथ मिलन है, इसीका नाम योग है, यही साधनाकी चरम सिद्धि है, यही जीवात्माकी परम तृप्ति एवं जीवका परम धन और परम धाम है ।

तारकब्रह्मयोग

भगवान् कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
(गीता ८।२०)

उस चराचरके कारणभूत अव्यक्त (प्रकृति) से भी श्रेष्ठ जो अतीन्द्रिय अनादि एक भाव है, वह सब भूतोंके विनष्ट होने-पर भी नाशको प्राप्त नहीं होता ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(गीता ८।२१)

श्रुतिमें जिसे अव्यक्त अक्षर कहा गया है, वह जीवकी परम गति है । जिसे पाकर पुनः लौटना नहीं होता, वही मेरा परम धाम है ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
(गीता ८।२२)

हे पार्थ ! जिसमें समस्त भूतगण रहते हैं एवं जो समग्र जगत्में व्याप्त हैं, उस परम पुरुषकी प्राप्ति अनन्य भक्तिके द्वारा ही हो सकती है ।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥
(कठोपनिषद्)

सुदुर्दर्श-हृदयस्थित दुर्गम स्थानमें स्थित उस पुराणपुरुषको अध्यात्मयोगबलसे ही प्राप्त करके ज्ञानीगण हर्ष और शोकसे छूटते हैं ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
(गीता ८ । ११)

वेदवेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं, आसक्ति-रहित यति जिसमें प्रवेश करते हैं एवं जिसे जाननेकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं ।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

यह अक्षर ही ब्रह्म है एवं यह अक्षर ही सर्वश्रेष्ठ है । इस अक्षरको जाननेसे ही जो इच्छा की जाती है, वही प्राप्त होता है ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥
(कठोपनिषद्)

वही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमहीन ज्योतिके समान प्रकाशमान है । वह भूत और भविष्यत्का नियन्ता है । वह आज भी है और कल भी है ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥
(कठोपनिषद्)

वही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष हृदयके मध्यस्थलमें विराज रहा है । वह भूत और भविष्यत्का नियन्ता है । उसका इसी रूपमें अनुभव करके ज्ञानीजन किसीसे द्वेष नहीं करते ।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥
(मुण्डकोपनिषद्)

यह आत्मा अत्यन्त विशाल, दिव्य और अचिन्त्यरूप है । फिर यह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मरूपमें प्रतीत होता है । यह दूरसे भी अधिक दूर और निकटसे भी अधिक निकट है । जो इसे देखना चाहते हैं, वे इसे हृदय-गुहामें ही देख पाते हैं ।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥
(कठोपनिषद्)

मनके द्वारा ही यह प्राप्त होता है। यह अक्षर पुरुष अनेक नहीं है। जो इसे इस रूपसे नहीं देख पाता, वह मृत्युसे फिर मृत्युको प्राप्त होता है।

इस अक्षर पुरुषको कौन प्राप्त करते हैं?

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

जो अनन्यचित्त होकर निरन्तर मुझे (भगवान्‌को) स्मरण करते हैं, हे पार्थ! उसी नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(कठोपनिषद्)

ज्ञान जिसका सारथी है, मन जिसका प्रग्रह (लगाम) है, वही संसार-पथको पार करके विष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

भक्तियोग

यहाँ एक बात कहनेकी बड़ी आवश्यकता है। हम चाहे कुछ भी क्यों न करें, हम चाहे जितने बड़े ज्ञानी क्यों न हों, पूरी श्रद्धा और विश्वास हुए बिना हमारा किया-कराया सब कुछ भस्ममें घीकी आहुतिके समान होता है। मनकी स्थिरता हो या और कुछ भी हो, सब कुछ भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये ही है। वे ही हमारे परम सुहृद् हैं, वे ही हमारे सबसे बढ़कर अपने हैं, वे ही हमारे सब कर्मोंके, सम्पूर्ण चिन्ताओंके साक्षी हैं, वे ही हमारे हृदयमें स्थित रहकर हृदयकी सभी बातें सुनते हैं, इस तत्त्वको भूल जानेसे काम नहीं चलेगा। हम एक बार प्रतिदिन उनके चरणोंमें आकर उपस्थित हों। एक बार आँखें मूँदकर हृदयके अन्दर उन्हें देखनेकी चेष्टा करें; विषयोंसे मनको खींचकर उसे उनके चरण-कमलोंमें निश्चलरूपसे लगा सकते हैं या नहीं, एक बार प्राणपणसे चेष्टा करके देखें। उन्हें स्मरण करनेकी इच्छा हो या न हो, तो भी प्रतिदिन नियमितरूपसे उनके समीप आकर खड़े हों। संसारके विविध प्रलोभन हमें भुलाकर चाहे संसार-जालमें फँसायें, तो भी प्रतिदिन उनके चरण-तलमें उपस्थित हो-कर उन्हें नमस्कार करें। इस संसारमें रचे-पचे हुए मन लेकर ही—

लोभ-मोहसे मलिन हुए मनको लेकर ही, दरिद्र-वेशमें उन विश्वतश्चक्षुके सम्मुख प्रतिदिन आ खड़े हों। वे करुणासिन्धु हैं, दीन-हीनके प्रति कृपा करेंगे ही। वे हमारे परम सुहृद् हैं, फिर उनकी शरण न जाकर और किसकी शरणमें जायँ? उनसे बढ़कर हमारा अपना तो और कोई है नहीं; इसीलिये हम प्रतिदिन हाथ जोड़कर, सिर नवाकर उनके समीप आकर एक बार उनके प्रति आत्मनिवेदन करें। जबतक अहङ्कार—अभिमान है, तबतक वे दूरसे भी दूर हैं। उनके प्रति अनन्य भक्ति तो सहज ही मिलती नहीं, तो भी प्रतिदिन हाथ जोड़कर उनसे यह भीख माँगें कि 'हे भगवन्! हमें अपने चरणारविन्दकी भक्ति प्रदान करो' भक्ति पहले-पहल न हो, तो श्रद्धासहित भगवान्का स्मरण और कीर्तन करते रहो, क्रमशः भक्ति भी आ जायगी। जिसने भक्तिको प्राप्त कर लिया उसको मुक्तिकी क्या चिन्ता? भगवान्ने कहा है—'*मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते*।' पहले श्रद्धा-युक्त चित्तसे भगवत्-कथा सुनो, श्रद्धाके साथ भगवद्-भक्तोंका संग करो। यह श्रद्धा ही हमारा प्रधान सहारा है। मनमें कुछ आग्रह—प्रेम उत्पन्न होते ही श्रद्धा होती है। भक्तिके अवतार चैतन्य महाप्रभुने कहा है—श्रद्धाके साथ भगवन्नाम-स्मरण और कीर्तन करते-करते ही भक्ति आकर उपस्थित होती है। किस विधिसे श्रीहरि-नाम लेनेपर प्रेम उत्पन्न होता है। इस बातको निम्नलिखित श्लोकमें श्रीचैतन्यदेव बतलाते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

अपनेको एक तिनकेसे भी छोटा समझो, वृक्ष जैसे काटनेपर भी कुछ नहीं बोलता, उसी प्रकार सहनशील बनो। उत्तम बनकर निरभिमान रहो, एवं भगवान्‌का अधिष्ठान जानकर जीवमात्रका सम्मान करो।

'एई मत हञा जेई कृष्ण नाम लय।
श्रीकृष्ण चरणे तार प्रेम उपजय॥'

इस प्रकारका बनकर जो श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन करता है, उसीको श्रीकृष्ण-चरणोंका प्रेम प्राप्त होता है।

भक्तिशास्त्रमें भी लिखा है—

'आदौ श्रद्धा ततः सङ्गः सङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेम…………… ॥'

भगवान्‌को प्राप्त करनेकी पहली सीढ़ी श्रद्धा ही है, दूसरी सीढ़ी सत्-चर्चा और साधुसङ्ग एवं असत्-चर्चा और कुसंगका त्याग है। साधुसङ्गकी अपार महिमा है। सन्तोंकी बात सुननेसे, उनके भाव देखनेसे मनकी कालिमा छूट जाती है। वे जिस आनन्दमें डूबे हुए हैं, उनकी सङ्गति करते-करते उसी आनन्दके छींटे हमारे ऊपर आकर लगने आरम्भ हो जाते हैं। जिन्होंने एक बार उस रसका स्वाद ले लिया है, उन्हें सांसारिक रस अत्यन्त नीरस लगता है। यह यथार्थ ही है—

यदैव सत्सङ्गस्तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः।

श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

के हेतवो ब्रह्मगतेस्तु सन्ति?
सत्सङ्गतिर्दानविचारतोषाः ।

इसके बाद उपासना अथवा साधन है, जिसे श्रीचैतन्यने 'नाम-कीर्तन' कहा है। गीतामें भगवान्ने कहा है—'*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः*'—जो दृढ़व्रत होकर संयतचित्तसे मेरा नाम-कीर्तन करते हैं, उनका चित्त उपरत होता है। उनका चित्त विषयसे विमुख होकर भगवान्के चरणपद्मोंमें लोट-पोट हो जाता है। इसी हेतु नाम-सङ्कीर्तनके द्वारा चित्तकी मलिनता दूर करना हमारा कर्तव्य है। भगवत्-प्रेममें उन्मत्त होकर श्रीचैतन्यने कहा था—

'हर्षे प्रभु कहे शुनो स्वरूप रामराय
नाम-सङ्कीर्तन केलि परम उपाय।
सङ्कीर्तन हइते पाप संसार नाशन
चित्त शुद्धि सर्व भक्ति साधन उद्गम॥
कृष्ण-प्रेमोद्गम प्रेमामृत आस्वादन
कृष्ण-प्राप्ति सेवामृत समुद्रे मज्जन॥'
(श्रीचै० च०)

अर्थ स्पष्ट है।

'चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्॥'

भगवान्‌में शरीर-मनको सर्वतोभावेन निमग्न कर देना ही भजनका चरम लक्ष्य है। हमारे चित्तपर न जाने कितने अहङ्कार, कितने चापल्य और कितने विकारोंका बोझ लदा है, भगवद्भजनके द्वारा ही वह बोझ उतारा जा सकता है, इसीका नाम अनर्थनिवृत्ति है। यही भक्ति-साधनकी चौथी सीढ़ी है। अनर्थकी निवृत्ति होनेपर ही निष्ठा और रुचि उत्पन्न होती है। इस रुचिके बढ़ जानेपर ही भगवान्‌के प्रति अहैतुकी भक्ति या आसक्ति होती है। तत्पश्चात् भाव, और भावके पश्चात् प्रेमकी प्राप्ति होती है। यही मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ है। जो इस प्रकार भगवत्-प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं वे इस भयानक संसार-सागरसे तर जाते हैं। भगवान् स्वयं उनको पार उतारनेवाले होते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२। ६-७)

किन्तु जो अनन्य भक्तियोगके द्वारा सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण-कर मेरे ही परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ! अपनेमें निवेशित-चित्त उन सबका मृत्युयुक्त संसार-समुद्रसे मैं स्वयं उद्धार करता हूँ। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने भक्तिका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

जैसे गङ्गाका जल अविच्छिन्नरूपसे समुद्रकी ओर प्रवाहित होता है, वैसे ही मेरे गुणके श्रवणमात्रसे ही मेरे प्रति जो मनकी अविच्छिन्न गति होती है, उसीको निर्गुणभक्ति कहते हैं। यह भक्ति फलानुसन्धानशून्य और भेददर्शनरहित होती है। अतएव—

'कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण कीर्तन।
अचिराते पावे तबे कृष्ण प्रेमधन॥'
(चै० च०)

कुबुद्धि छोड़कर भगवान्‌का श्रवण-कीर्तन करो, जिससे तुम्हें शीघ्र ही श्रीकृष्ण-प्रेम-धन मिल जायगा।

छठा अध्याय

स्तोत्र-प्रार्थना और स्वाध्याय

प्रतिदिन नित्य साधन-भजन समाप्त करनेके बाद भक्तिको उद्दीप्त करनेवाले ऋषिप्रणीत स्तोत्रादिका पाठ करना चाहिये। भक्तोंके रचे हुए पद्यों और भजनोंके गानेसे मनमें बड़े ही आनन्द, बल और उत्साहकी प्राप्ति होती है। इसी समय मन लगाकर श्रीभगवद्गीता, भागवत और महाभारतके विशेष-विशेष अंश, अध्यात्मरामायण, उपनिषद् या भक्तिसूत्रादि किसी सद्ग्रन्थको कुछ देर पढ़ना उत्तम है। जो एक वार पढ़नेसे अच्छा लगे और जिससे चित्तमें प्रसन्नता उत्पन्न हो, उसको बार-बार पढ़ना चाहिये। प्रसन्न भावमें निमग्न होनेपर भी चित्त स्थिर और एकाग्र होता है। यही परमानन्दकी प्राप्तिका कारण है। बहुत-से विषयोंका चिन्तन अथवा बहुत-से ग्रन्थोंको साथ ही पढ़ना चित्तके एकाग्र होनेका विरोधी है। फिर हाथ जोड़कर भगवान्‌से प्रार्थना करो—'प्रभो! अब मैं दिनके कर्मोंमें लगनेको जा रहा हूँ। तुम मेरे हृदयमें स्थित रहकर निरन्तर यह स्मरण कराते रहना कि मैं जो कुछ भी करता हूँ, सब तुम्हारे ही कर्म हैं। हे नाथ! तुम्हारी महीयसी शक्तिके

सामने मैं अपने सारे कर्तृत्व-अभिमानको चूर्ण कर सकूँ, जैसे विश्वासी सेवक अपने स्वामीके सामने जानेमें कुछ भी सङ्कोच नहीं करता, दिन बीतनेपर मैं भी वैसे ही निर्भय-चित्तसे तुम्हारे चरणतलमें आकर भक्ति-विनम्र हृदयसे अपनेको निवेदन कर सकूँ। यदि मुझे कोई कष्ट मिलता है, कोई ताप होता है, तो वह तुम्हारा ही दान है। मेरे कल्याणके लिये ही तुम्हींने उसका विधान किया है। यह बात कृतज्ञ अन्तःकरणसे सदा स्मरण रख सकूँ।' इसके सिवा अपनी दुर्बलताओंका बखान करके उनसे छूटनेके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना करो। हृदयकी व्याकुलता सच्ची होती है तो भगवान् उस प्रार्थनाको कभी पूरा किये बिना नहीं रहते। इसके बाद, सभी जीवोंका कल्याण हो, सभीको अध्यात्मशक्ति प्राप्त हो एवं सभी आनन्द-लाभ करें, यह प्रार्थना करनी चाहिये। प्रतिदिन सुबह और शाम दोनों समय इस मन्त्रकी आवृत्ति करो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सब कल्याणको प्राप्त करें। दुःखका भागी कोई न हो।

सातवाँ अध्याय

कर्मक्षेत्रमें प्रवेश

हम साधारणतः कुछ ऐसे मेरुदण्डहीन हैं कि संसारको और ईश्वरको, दोनोंमेंसे एकको भी दृढ़तासे पकड़कर नहीं रख सकते; किसी भी कार्यमें हमारी आस्था नहीं होती। किसी प्रकार भी हमारे अन्दर उत्साह उत्पन्न नहीं होता। कोई दूसरा कुछ करता तो उसकी चेष्टा विफल करनेके प्रयत्नमें तो हम कोई कमी नहीं आने देते। या दूसरे यदि कोई कुछ करनेका प्रयास करते हैं, तो उसकी व्यर्थता सोचकर हमारे मनमें करुणाका उद्रेक होता है। किसी प्रकारकी ज्ञानचर्चा, किंवा अर्थोपार्जन, यहाँ-तक कि कृषि, वाणिज्य या अन्य किसी हितकर कार्यमें, हमारे चित्तका किसी तरह भी आकर्षण नहीं होता। यह बात नहीं है कि तीव्र वैराग्यके कारण हम इन सब कार्योंकी उपेक्षा करते हों। सहज ही यदि कोई वस्तु प्राप्त होती है, तो उसका लोभ संवरण करना हमारे लिये कठिन हो जाता है। किन्तु परिश्रम-साध्य होनेके कारण ही किसी कार्यमें हाथ डालनेकी हमारी इच्छा नहीं होती। इसीलिये केवल कपट-वैराग्यका भाव दिखाकर हम इन सब कर्मोंको तुच्छ भावसे देखते हैं। जिस देशमें ऐसे भावोंको रखनेवाले लोग अधिक संख्यामें हों, उस जातिका

अभ्युदय होनेमें सन्देह ही है। लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकनेमें हम किसीसे कम नहीं हैं, परन्तु कामके समय हमारे कपट-वैराग्यकी मात्रा सारे पाण्डित्यको लाँघ जाती है। इस प्रकारका आलसी और ऐसा महान् स्वार्थी भी यदि कल्याण पा जाय तो फिर दरिद्रता, रोग, अकालमृत्यु और अस्वास्थ्यकी पीड़ा दूसरा कौन भोगेगा? ईश्वरमें जिसका विश्वास नहीं है, स्वजन-बान्धवोंके प्रति स्नेह नहीं है, अपने मनुष्यत्वपर भी श्रद्धा नहीं है, वह जाति इतिहासमें किसी कालमें बड़ी कहलाने योग्य नहीं। जिस वीर्यके अभावसे हम आज संसारमें बड़े नहीं हो पाते, उसी वीर्यके अभावसे अध्यात्मराज्यमें भी हम दीन-हीन बने रहते हैं। अस्तु।

सन्ध्या-वन्दनादि करके, पूजा-अर्चना समाप्त करके अब घरके कामोंमें मन लगानेका समय है। जब काम करना प्रारम्भ करो, तब फिर एक बार मन-ही-मन ये तीनों प्रश्न करो—मैं कौन हूँ? मैं कर्म क्यों करूँ? और किस प्रकारसे कर्म करूँ?

मैं कौन हूँ? मैं उसी सर्वव्यापी परमानन्दनिलय अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द अव्यक्त परमात्माका अंशविशेष हूँ। परमात्मा विभु हैं, वे अपनी महिमासे महिमान्वित हैं। मैं दुर्बल, शोक-मोहसे क्षुब्ध जीव हूँ; तथापि उनकी ही महिमाने मुझे भी महिमान्वित कर रक्खा है। मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर तो मेरा एक आवरण (पर्दा) मात्र है; शरीरका सुख-दुःख मेरी आत्माको स्पर्श नहीं करता; संसार मेरा सनातन घर नहीं है, यह तो मेरा कर्मक्षेत्र है। मेरा घर तो परमात्मामें है, वहीं मुझे फिर लौट जाना पड़ेगा।

मैं कर्म क्यों करूँ ? पहले कह चुका हूँ । मुझे उसी पाप-शून्य, शुद्ध धाममें—भगवत्पदलाञ्छित ज्योतिर्मय लोकमें लौटना होगा । किन्तु मेरे इस जीवनके शुभाशुभ कर्म ही मुझे वहाँ शीघ्र अथवा देरसे पहुँचानेवाले हैं इसलिये अपने निजके कल्याणके लिये ही परोपकारादि शुभ कर्मोंके द्वारा पुण्य सञ्चय करना होगा । शुभ और पुण्यकर्म हमारी बुद्धिको परिमार्जित करते हैं, हृदयको प्रशस्त बनाते हैं, उसीके द्वारा हम ब्रह्मकी शुभ्र दिव्य-ज्योतिका पता पाते हैं एवं इन शुभ कर्मोंके द्वारा ही हम जन्म-जन्मार्जित संस्कारोंसे छूटकर परमानन्दको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं । यह आनन्द ही हमारी मुक्ति है ।

किस प्रकार कर्म करूँ ? भगवान्‌में योगयुक्त होकर प्रवाहकी भाँति कर्म करते जाना होगा । लक्ष्य रहेगा केवल परमात्माको प्राप्त करना । कर्मका सुख-दुःख मेरे चित्तको हर्षित अथवा व्यथित न कर सके । कर्मका कोई भी विपाक मेरे चित्तकी शान्तिको चञ्चल न करे । अपना सुख या आराम नहीं चाहूँगा; जहाँ उनकी बुलाहट होगी, वहीं जाकर अपनेको सेवामें नियुक्त कर रक्खूँगा । विश्वासी सेवककी नाईं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता हुआ मृत्युकी बाट देखता रहूँगा । वे मेरे लिये जो कुछ भी विधान करेंगे, वह सुखकर हो अथवा कठोर हो, प्रसन्नमुखसे उसका अभिनन्दन करूँगा । विश्ववासी समस्त जीव उनकी सन्तान हैं, यह समझकर सबके साथ मित्रता रक्खूँगा । अपने लिये कुछ भी चिन्ता नहीं करूँगा ।

संसाराश्रम

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
(मनु०)

आर्यऋषि संसाराश्रमको क्यों इतना अधिक महत्व देते थे? ऋषिगण मङ्गल कर्मके द्वारा ही जीवनको नियमित करनेकी पूरी चेष्टा करते थे, वे जहाँ मङ्गल देखते वहीं अपना शिर झुका देते। इसीलिये महर्षि मनुने आश्रम-चतुष्टयका वर्णन करते हुए गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें उपर्युक्त बात कही है कि जैसे वायुका आश्रय लेकर सारे जीव जी रहे हैं, वैसे ही इस गृहस्थाश्रमके आश्रयपर सारे आश्रम चल रहे हैं।

वास्तवमें गृहस्थाश्रम न हो तो दूसरे सभी आश्रमोंका चलना रुक जाय। सबका आधार यह गृहस्थाश्रम है। अवश्य ही आजकलका गृहस्थाश्रम केवल स्त्री-पुत्रोंको लेकर घरमें रहनेमात्रका रह गया है, वह अब दूसरे आश्रमोंका आश्रयस्वरूप नहीं है। बहुतेरे सोचते हैं कि संन्यासी-ब्रह्मचारी होना बड़ा कठिन है, आजकलके युगमें वैसा नहीं हो सकता, हमारे-जैसे दुर्बलोंके लिये तो गृहस्थाश्रम ही ठीक है। हाय मूर्खता! वे यह नहीं सोचते कि गृहस्थाश्रम बहुत ही कठिन है। मनु महाराज क्या कहते हैं—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखञ्चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीनों आश्रमवासियोंको वैदिक ज्ञान और अन्नप्रदान प्रतिदिन गृहस्थ ही देते हैं, इसीलिये गृहस्थ सब आश्रमवासियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। जो परलोकमें अक्षय स्वर्ग और इस लोकमें सुखकी इच्छा रखते हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक सतत इस गृहस्थाश्रमका पालन करना चाहिये। जो इन्द्रियोंको वशमें नहीं रख सकते, उनके द्वारा गृहस्थाश्रमका पालन ठीक नहीं हो सकता।

इससे पता लगता है कि गृहस्थाश्रमपर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। सबका भार ग्रहण करना होगा, सबकी आवश्यकताएँ पूर्ण करनी होगी, सब आश्रमवालोंको आश्रय देना होगा, जीवमात्रको सुख पहुँचाना होगा। इसमें कितना त्याग चाहिये? कितना संयम चाहिये? इसीलिये पहले ब्रह्मचर्याश्रममें इन्द्रियोंको अच्छी तरह काबूमें कर लेनेके बाद ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका विधान है।

पर आजकल हम चाहे मूर्ख हों, दरिद्र हों, अङ्गहीन हों, रोगी हों, हमें गृहस्थ बनना ही चाहिये। शास्त्रके वचनोंपर कैसी श्रद्धा है? हम परम धार्मिक हिन्दू जो ठहरे!!

गृहकर्म एवं अर्थोपार्जन

गृहस्थमात्रको घरके कामोंमें मन लगाना चाहिये। इस विषयमें कुछ विशेष कहना नहीं है, तथापि यह बात सभीको सदा याद रखनी चाहिये कि हम जो कुछ भी करें, सो सब परमात्मा-

की परितृप्तिके लिये ही करें, कर्म करके उसका सम्पूर्ण फल भगवान्‌के अर्पण कर दें; ऐसा करनेपर हमें कर्म-बन्धनसे बँधना नहीं पड़ेगा। कर्ममें एक विलक्षण मोह रहता है, एवं 'मैं' पनके अभिमानको खड़े रखनेके लिये एक प्रवल आग्रहके रहनेकी भी सम्भावना है; अतएव यदि हम भगवत्-प्रीतिके लिये कर्म न करके, केवल अभिमानके वश होकर करेंगे, तो हमें कर्ममें आनन्द और आराम तो मिलेगा ही नहीं, उलटा वह कर्म एक नशेके समान बनकर अपनी मादकतासे हमें दुःखी और निराश कर देगा। जब बोझ उतारनेका समय आयेगा, तब भी हम उसका त्याग नहीं कर सकेंगे। वेद कहता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईश०)

किसीके भी धनपर लोभ न करो, जो भगवान्‌ने दिया है, उसीको सन्तुष्ट चित्तसे भोगो। मनुने कहा है—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम्॥

शरीरका निर्वाह हो जाय, यही लक्ष्य रखकर शरीरको कोई क्लेश पहुँचाये बिना वर्ण-विहित निन्दारहित कार्यके द्वारा धन कमाओ।

धन कमानेका लोभ अधिक बढ़नेपर उसमें एक नशा-सा हो जाता है,जो चित्तको अत्यन्त ही विक्षिप्त कर देता है, इससे चित्त-

की बहिर्मुखवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह अन्तरात्मातकको भूल जाती है। आवश्यकताके अनुसार धन अवश्य कमाना चाहिये, किन्तु सावधान, वही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनकर कहीं असली लक्ष्यको ढँक न दे। धनमें खूब नशा होता है, इसीलिये वैराग्यवान् पुरुष धनको घृणाकी दृष्टिसे देखा करते हैं। किन्तु संसार-धर्मका पालन करनेके लिये धनकी आवश्यकता है, अतएव धन कमाना भी जरूरी है। उपार्जित धनका यथायोग्य व्यय करनेसे ही उसका सदुपयोग होता है। अधर्मके द्वारा धन उपार्जन करनेकी प्रवृत्ति कभी पैदा न हो। अपनी आमदनी थोड़ी हो तो हर्ज नहीं, किन्तु लोभवश अधिक धन-प्राप्तिकी आशामें हम पापका आश्रय न ले लें। थोड़ी आमदनीमेंसे कुछ हिस्सा धर्मार्थ लगाना चाहिये। आमदनी यदि बहुत हो तो अपने खाने-पहननेभरके लिये, तथा कुछ और सञ्चय रखकर, शेष सारा धन धर्मकार्यमें लगा देना ही कर्तव्य है। पापसे पैदा किये हुए धनसे पोषित शरीर कभी कल्याणकर्मके योग्य नहीं होता। वह तपस्वी अथवा संयमी नहीं हो सकता। इसलिये अपनी भविष्य-सन्तानपर दया करके ही धनोपार्जनके सम्बन्धमें विशेष सावधान रहना आवश्यक है। क्योंकि जैसा अन्न खाया जाता है वैसी ही प्रजा होती है। *'यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा।'*

आठवाँ अध्याय

आहार

पूजयेदशनं नित्यं अद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥
(मनु०)

अन्न ही जीवन-रक्षामें कारण है, इस प्रकार अन्नका ध्यान करो; अन्नकी निन्दा न करके भोजन करो। अन्न देखकर प्रसन्न होओ और किसी दूसरे कारणसे यदि मनमें खेद हो तो, उसे भी अन्नको देखकर छोड़ दो। 'हमें प्रतिदिन अन्न मिले' ऐसा कह-कर अन्नकी वन्दना करो। आनन्दित-चित्त होकर भोजन न करनेसे उसके द्वारा शरीर और मनका आशाके अनुसार उपकार नहीं होता।

शुद्ध होकर भोजन करो। मनमें दृढ़ निश्चय करो कि यह भोजन अच्छी तरह पच जाय। यथार्थ आध्यात्मिक उन्नतिके लिये जिस प्रकार शरीरकी आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीरगठनमें यह अन्न सहायक हो।

आहारसे शरीरका और शरीरसे मनका एक निकट सम्बन्ध है। धर्मके पालनमें भी आहार हमारी सहायता करता है। आर्य-ऋषियोंने किसी कामको व्यर्थ ही स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भोजनमें भी धर्मके महान् साधनोंको देखा था। यह सारी बातें उनकी अति सूक्ष्म दृष्टिका परिचय देती हैं।

जैसे वृक्षोंके साथ मनुष्यके प्राणोंका प्रतिक्षण लेन-देन चलता है, उसी प्रकार देवताओंके साथ भी हमारे शुभ कर्म और शुभ बुद्धिका आदान-प्रदान चलता है। जिस प्रकार हमारे अन्दरसे निकला हुआ प्राणवायु वृक्षोंके प्राण-धारणमें सहायता पहुँचाता है उसी प्रकार वृक्ष भी अपने त्याग किये हुए प्राणवायुसे हमारे प्राणधारणमें सहायता पहुँचाते हैं। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वृक्षोंके प्राणधारणके लिये हम अपनी कुछ शक्ति खर्च करते हैं, एवं वृक्ष हमारे लिये अपनी कुछ शक्ति व्यय करते हैं। यही वृक्षोंके साथ हमारे प्राणोंका विनिमय है। प्राणिजगत्में जैसे यह क्रिया चलती है, मनःजगत्में भी ठीक वैसे ही विनिमय-का कार्य चलता है। शुभ कर्म, शुभ चिन्तन और ज्ञानानुशीलनके द्वारा हम जो शक्ति व्यय करते हैं, उससे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवतागण संवर्द्धित होते हैं, एवं इसके बदलेमें वे देवता हमें मनचाहा फल प्रदान करके सब प्रकारकी दीनताओंसे हमारी रक्षा करते हैं। भोजनके कार्यमें भी मनुष्यों और देवताओंमें ठीक इसी प्रकारका लेन-देन चलता है, इसीलिये इतनी बातें लिखनेकी आवश्यकता पड़ी। अब यह देखना चाहिये कि भोजनसे अध्यात्म-धर्मके सम्बन्धमें हमें क्या लाभ होता है? आहारके द्वारा ही शरीरकी पुष्टि और वृद्धि होती है, शरीरकी पुष्टिके साथ ही इन्द्रिय और मनका तेज भी बढ़ता है, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीसे सिद्ध है कि आहारकें साथ शरीरका और शरीरके साथ मनका अति निकट सम्बन्ध है। यह भी देखा गया है कि बुरे अन्नको ग्रहण करनेसे शरीर दुर्बल और रोगग्रस्त हो जाता है और मनका बल

घट जाता है। आहार यदि पवित्र और पुष्टिकर हो तो शरीर पवित्र और तेजपूर्ण होता है तथा मनमें भी सत्त्वगुणका सञ्चार होता है। सात्त्विक भोजनसे जैसे चित्त प्रसन्न होता है, निन्दित भोजन करनेसे भी उसी प्रकार चित्तकी सारी प्रवृत्तियाँ नीची हो जाती हैं। असुरके समान भोजन करनेसे चाहे असुरके समान बल-पराक्रम बढ़ जाय, पर बुद्धि अवश्य आसुरी भावोंसे पूर्ण हो जायगी, यह निश्चित है। आसुरी बुद्धिवाले मनुष्यके द्वारा कभी शुभ कार्य नहीं बन सकता। दैवी आहारसे हृदयमें देवभावका विकास होता है एवं दैवी-शक्ति और दैवी-सम्पत्तिके प्राप्त करनेमें सहायता मिलती है। जब शरीरके द्वारा ही हमें धर्म-साधन करना है, तब शरीर और मनके पवित्र न रखनेपर धर्म-साधनमें नाना प्रकारके विघ्न क्यों नहीं होंगे? जब आहारके द्वारा ही शरीर और मन दोनोंकी पुष्टि होती है, तब शरीर और मनको पवित्र रखनेके लिये आहारको भी पवित्र रखना ही चाहिये।

अवश्य ही सात्त्विक भोजनसे हमारा मतलब केवलमात्र दूध, गोघृत एवं आतप चावलसे ही नहीं है। सात्त्विक आहार कुछ खास-खास चीजोंका ही नाम नहीं है, सात्त्विक वही है जो आरोग्य, बल, आयु और शक्ति दान करके हमारे सत्त्वगुणको बढ़ा दे। जिसे पेटकी बीमारी सता रही है, गोघृत हजार अच्छा होनेपर भी उसके लिये सात्त्विक आहार नहीं है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

सात्त्विक पुरुषोंको वही आहार प्रिय है, जिसके द्वारा आयु, शक्ति, आरोग्य, बल और प्रीतिकी वृद्धि होती है। कुछ लोग कहेंगे कि प्रीति तो बहुत चीजोंसे हो सकती है, इसलिये क्या वे सभी सात्त्विक हैं ? सो बात नहीं है। प्रीतिका अर्थ जीभकी तृप्तिमात्र नहीं। प्रीति तभी होती है, जब किसी वस्तुविशेषके प्रति हमारी आसक्ति नहीं रहती, एवं जिसका अभाव भी हमें क्षुब्ध नहीं करता। चित्तकी इस प्रकारकी अवस्था तभी होती है, जब हम चित्तमें साम्यभावका अनुभव करते हैं, अर्थात् ऐसी विशेष अवस्थाको हम प्राप्त हो जाते हैं, जिसमें न उद्वेग है, न शोक है, न हर्ष है और न विषाद है। सत्त्वगुणके आनन्द और प्रकाश-शक्तिके द्वारा ही ऐसी अवस्था प्राप्त होती है।

सात्त्विक आहारमें स्निग्धता होनी चाहिये, अर्थात् जिस आहारसे शरीरमें किसी प्रकारकी उत्तेजनाका भाव न आ जाय। साथ ही उसका 'स्थिर' होना आवश्यक है। 'स्थिर' का अर्थ यह कि जिसके उपादान हमारे शरीरमें ही रह जायँ। अनेक खाद्य पदार्थ ऐसे हैं जो पुष्टिकर तो हैं परन्तु आहारके पश्चात् शरीरको इतना गरम और मनको इतना चञ्चल कर देते हैं, जिससे रातमें सुखसे नींद नहीं आती और स्वप्नदोष हो जाता है। ऐसे आहारसे लाभ नहीं है; कारण, शरीरको जो कुछ मिला उससे कहीं अधिक कीमती वस्तु शरीरसे निकल गयी, सञ्चय कुछ नहीं हुआ। 'स्थिर' वही है, जो हमारे शरीर-यन्त्रमें सहज ही पच जाय, कोई पाशविक उत्तेजना न पैदा करे एवं जिसका रस और सार शुक्र-

धातुमें परिणत हो और उसकी इतनी शक्ति हो कि वह शरीरमें ठहर सके। शरीरमें शुक्रके सञ्चित हो पानेपर ही वल प्राप्त होनेकी सम्भावना है।

जो वीर्य धारण करनेमें समर्थ हैं, वे साधनाग्निसे उसे और भी अधिक परिपक्व कर लेते हैं। तव वह ओज-धातुमें परिणत होता है एवं हमारे शरीरको कान्तिमय वना देता है। तभी मनमें सात्त्विक ज्ञानके विकास एवं दिव्य भावके सञ्चारकी सम्भावना होती है। इसीलिये आहारके विषयमें हिन्दुओंमें इतना विचार है।

यद्यपि भगवान्‌ने गीतामें किसी वस्तु-विशेषका नाम वताकर आहारके विधि-निषेधकी व्यवस्था नहीं की है, परन्तु महर्षि मनुने कुछ वस्तुओंके भोजनका निषेध किया है। खूब सम्भव है, वे वस्तुएँ सत्त्वगुणकी विरोधिनी हैं।

'लशुनं गृञ्जनञ्चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥'

(मनु०)

लहसुन, गाजर, प्याज, कवक और विष्ठादिसे उत्पन्न वस्तुएँ द्विजातियोंके भक्षणयोग्य नहीं हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि, जीवनी-शक्तिपर आहारका वहुत प्रभाव पड़ता है। बुरा अन्न ग्रहण करनेसे रोग और अकालमृत्यु हो जाती है; शास्त्र और समाजमें इसके वहुत दृष्टान्त मिलते हैं। विप्रोंकी अकालमृत्युका कारण पूछनेपर भगवान् मनुने उत्तर दिया—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति॥

वेदका अभ्यास न करने, सदाचार त्याग करने, कर्तव्य-कर्ममें आलसी होने एवं दूषित अन्न भोजन करनेसे, मृत्यु ब्राह्मणोंके प्राण-वधकी इच्छा करती है।

पवित्र और परिमित भोजन स्वास्थ्यका निदान है। दिनको डेढ़ अथवा दो पहरके अन्दर और रातको एक पहरके अन्दर ही भोजन कर लेना चाहिये। रात्रिका आहार दिनके आहारसे हल्का होना आवश्यक है। जो लोग साधनामें आगे बढ़े हुए हैं और अधिक राततक जागकर साधनाभ्यास किया करते हैं, उनको तो भोजन बहुत थोड़ा करना चाहिये। एक बार दिनमें और दूसरी बार रातमें, इस प्रकार दो ही बारका भोजन उचित माना गया है, बीचमें और आहार न करना ही उचित है। *'नान्तरा भोजनं कुर्यात्।'* हाथ-पैर आदि धोकर, कुल्ला करके भोजनके लिये बैठना चाहिये। भोजन जीभकी तृप्तिके लिये नहीं है, यह एक महायज्ञ है, इस बातको स्मरण रखना चाहिये। भोजन-सामग्रियोंका अभिनन्दन करना चाहिये, खिसियाकर, अपवित्र अथवा मलिन अवस्थामें, खुली जगह भोजन नहीं करना चाहिये। जो कुछ भोजन करे, पहले उसे भगवान्‌के आगे निवेदन कर दे। अन्नके द्वारा अतिथि, अभ्यागत और कुटुम्बकी सेवा करे। कम-से-कम एक भूखे दरिद्रको प्रतिदिन अन्नदान करना गृहस्थका धर्म है। प्रत्येक गृहस्थ यदि एक आदमीकी आधी खूराकका भार अपने

ऊपर ले ले, तो पेटकी ज्वालासे अनेकों मनुष्य बच जायँ। और यों एक परम धर्मका अनुष्ठान हो। हाय! पुराने ज़मानेमें यह बात किसीको सिखलानी नहीं पड़ती थी। प्रतिदिन अतिथि-सत्कार करना गृहस्थमात्रका कर्तव्य माना जाता था। जिसको अन्न दो, तिरस्कारपूर्वक मत दो; विनीत अन्तःकरणसे अन्नदान करो। भोजनसे जो अन्न बच रहे, उसे यत्नपूर्वक कुत्ते, बिल्ली अथवा पक्षियोंमें बाँट दो। इस नियमका प्रतिदिन श्रद्धा-पूर्वक सभीको पालन करना चाहिये।

निषिद्ध आहार

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

बहुत कड़ुआ, बहुत खट्टा, बहुत नमकीन, बहुत गरम, बहुत तीखा, बहुत रूखा और बहुत दाहक—ये सब वस्तुएँ दुःख, मानसिक सन्ताप और रोगप्रद राजसिक व्यक्तिका प्रिय आहार है। निःसार, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूँठा और अपवित्र आहार तामसिक जनोंको प्रिय है।

मनु महाराज कहते हैं—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्

समुत्पत्तिञ्च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥

'प्राणिहिंसा किये बिना मांस कभी उत्पन्न नहीं होता; प्राणि-वध स्वर्गजनक नहीं है; अतएव मांसाहारका त्याग करो । मांसकी उत्पत्ति और जीवोंके वध-बन्धनकी पीड़ा, इन सब बातोंपर विशेषरूपसे विचार करके वैध अथवा अवैध सभी प्रकारके मांस-भक्षणसे दूर रहना चाहिये । जो शास्त्रविधिको छोड़कर पिशाच-के समान मांस नहीं खाते, वे लोकसमाजमें प्रिय होते हैं और बीमारियोंसे कष्ट नहीं पाते ।' मांस न खानेवाले लोग रोगोंके कम शिकार होते हैं और दीर्घजीवी होते हैं । वर्तमान युगके वैज्ञानिक पण्डितोंने भी इस बातको मान लिया है, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विशेष आलोचना और परीक्षा करके देखना आवश्यक है । दिनमें एक ही बार हविष्यान्न भोजन करनेसे वह यथार्थ ही शरीरमें बलकी वृद्धि करता है और शरीरको कान्तिमय बना देता है । अत्यधिक भोजन और बुरा अन्न ग्रहण करनेसे शरीर अवश्य ही रोगग्रस्त और मलिन हो जाता है ।

अतएव मांस और मछलियोंका सर्वथा त्याग ही उत्तम है । क्योंकि इन सब प्राणियोंके देह-कणोंमें जो रोग और उनके अपने विशेष-विशेष स्वभावोंके परमाणु रहते हैं, मांस खानेसे वे मनुष्य-देहमें सञ्चारित होकर मनुष्यके शरीरमें रोग और मनमें अशान्ति पैदा करते हैं और उनकी प्रकृतितकको बिगाड़ देते हैं ।

किसी भी नशीली चीजका सेवन नहीं करना चाहिये, उससे धर्मकी हानि होती है। राजसिक आहारसे रसना तो तृप्त होती है, किन्तु वह केवल एक नीच लालसाका बन्धन है। सत्त्वगुणकी प्राप्ति चाहनेवालोंको रसनेन्द्रियकी लालसासे मोहित नहीं होना चाहिये। सात्त्विक वस्तुएँ भी अधिक मात्रामें खा ली जायँ तो वे भी राजसिक ही बन जाती हैं। अधिक मिर्च और मसालोंसे भरे हुए व्यञ्जनोंका व्यवहार भी राजसिक आहार ही है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी मसाले बहुत कम खाने चाहिये। भूख लगनेपर ही भोजन करना उचित है। बिना भूखका भोजन पेटमें जाकर पचता नहीं। जैसे अधिक भोजन स्वास्थ्यके लिये हानिकर है वैसे ही एकदम भोजनका त्याग कर देना भी अहितकर ही है।

भगवान् कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

(गीता ६। १६)

न तो बहुत अधिक खानेवालेको योग मिलता है और न बिल्कुल भूखा रहनेवालेको ही।

बीच-बीचमें अमावस्या, पूर्णिमा और एकादशी आदि तिथियों-पर उपवास करना अच्छा है। सबके लिये निर्जल उपवास अच्छा नहीं। अतएव इन तिथियोंमें बहुत थोड़ा-सा भोजन करना उत्तम है। आहारशुद्धिसे सत्त्वसंशुद्धि और सत्त्वसंशुद्धिसे ध्रुवास्मृति उत्पन्न होती है और ध्रुवास्मृतिके भलीभाँति उत्पन्न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

नवाँ अध्याय

स्वास्थ्य-रक्षा

व्यायाम

स्वास्थ्य-रक्षाके लिये नियमित और परिमित व्यायामकी बड़ी आवश्यकता है। व्यायामके द्वारा हृत्पिण्डका कार्य शीघ्रतासे होता है। और रक्त-सञ्चालनकी क्रियामें तेजी आ जाती है। इस रक्तके द्वारा सारे शरीर और इन्द्रियोंका पोषण होता है। केवल हृत्पिण्ड ही नहीं, फुस्फुसपर भी व्यायामका बड़ा प्रभाव पड़ता है। व्यायामके द्वारा श्वास-प्रश्वास ज़ोर-ज़ोरसे लेना पड़ता है, जिससे वायुका अम्ल अंश फुस्फुससे अधिक परिमाणमें जाकर रक्तका शोधन करता है और वह शुद्ध रक्त शरीरमें सर्वत्र सञ्चालित होकर दूषित अंशका नाश और दूषित देहकोषोंको यथायोग्य खाद्य बाँटकर उसे जीवित रखता है। एक बात और है, पेट और हृदयके बीचों-बीच एक झिल्ली है, श्वासकी हवा जिस परिमाणमें फैलती और सिकुड़ती है, वह झिल्ली भी उसी प्रकार उठती-बैठती है; जिससे नीचेके यकृतपर आप ही एक प्रकारकी मालिश हो जाती है जो पित्तके निःसारणमें सहायता पहुँचाती है। इससे उदरका क्लेद नष्ट होता है, भूख बढ़ती है और कोष्ठ साफ रहता है। इसके अतिरिक्त सभी कुछ अनुशीलनपर निर्भर है। जिसे जितना

परिचालित किया जायगा, वह उतना ही शक्तिशाली बनेगा। अतएव शरीरकी परिणति और पूर्णताके लिये तथा दीर्घायु और स्वास्थ्यके लिये व्यायामकी बहुत ही आवश्यकता है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अति व्यायाम और यदा-कदा अनियमित व्यायाम शरीरके लिये अत्यन्त हानिकर है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति एवं स्फूर्तिका सामञ्जस्य ही मनुष्यत्वका यथार्थ विकास करता है, अतएव शरीर-रक्षाके लिये व्यायाम करना सभीके लिये कर्तव्य है। खास करके, युवकोंके लिये तो व्यायामकी बहुत ही अधिक आवश्यकता है। लकड़ी काटना, मिट्टी खोदना, जल खींचना, दौड़ना, या कोई खेल खेलना किसी प्रकार भी प्रतिदिन परिश्रम करके कम-से-कम एक बार शरीरसे कुछ पसीना निकालना अत्यन्त आवश्यक है। सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके हिलाने-डुलानेका अभ्यास न रखनेपर शरीर अकर्मण्य हो जाता है। बहुत-से धनी लोग आलस्यमें दिन बिता-कर सदाके लिये स्वास्थ्यको खो बैठते हैं एवं शरीरको एक भारी बोझा बना लेते हैं। पुरुष हो या स्त्री, शारीरिक परिश्रम सभीके लिये अत्यन्त आवश्यक है। जो शारीरिक परिश्रम नहीं करते वे पाप बटोरते हैं। शारीरिक परिश्रम करनेसे बहुत-से मनुष्य बड़ी भारी शारीरिक और मानसिक बीमारीसे छूट गये हैं। हमारे हठ-योगके आसन और मुद्राएँ बहुत बढ़िया व्यायाम हैं। कम-से-कम उनमेंसे तीन-चार तो शरीरकी स्वास्थ्य-रक्षाके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। लोग उनका अभ्यास करके देख सकते हैं। इन आसनोंकी सहायतासे बहुत-से असाध्य रोगोंसे छूटा जा सकता है।

प्रतिदिन खुली हवामें दूरतक घूमना और जलमें तैरना भी उत्तम व्यायाम है। जिसमें धन खर्च होता है, ऐसे व्यायामकी इच्छा इस दरिद्र देशके लिये कभी कल्याणजनक नहीं है।

निद्रा

अधिक निद्रा जैसे शरीरको अकर्मण्य बनाती है, वैसे ही आवश्यकतासे कम निद्रा भी शरीरको अवसन्न कर देती है। अवश्य ही इसके लिये कोई निर्दिष्ट व्यवस्था नहीं की जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वास्थ्य और प्रयोजनके अनुसार निद्राकी मात्रा घटाने-बढ़ानेकी व्यवस्था कर सकता है। हाँ, इस बातको याद रखना बुरा नहीं है कि रात विश्रामके लिये है। अतएव रातका समय विश्रामके कार्यमें खर्च करनेसे शरीर और मनकी बहुत-सी थकावट मिट जाती है, दूसरे दिन मन निर्मल और शरीर बलवान् होता है। इसलिये रातमें व्यर्थ जागना या रातके समय अधिक परिश्रम करना अत्यन्त ही प्रकृति-विरुद्ध कार्य है। पशु, पक्षी आदि इतर श्रेणीके जीव प्रकृतिके इस नियमको कभी नहीं तोड़ते। इसीलिये उन्हें हमलोगोंकी तरह रोगोंकी असह्य पीड़ा भी नहीं भोगनी पड़ती। साधारणतः ६ घण्टेसे ८ घण्टेतक सोना उचित है। अधिक लोभवश जो विश्व-प्रकृतिके नियमको तोड़ते हैं उनके लिये अकाल-मृत्यु और विविध रोगोंसे बचनेका उपाय नहीं है। दिनमें सोना स्वास्थ्यके लिये हानिकर है। असुविधा न हो तो रातका पहला पहर बीतते ही सो जाना और फिर चौथे पहरमें उठ जाना चाहिये।

हाथ, पैर और मुँहको धो और पोंछकर सोना चाहिये। बिछौना खूब साफ सुथरा हो, उसमें खटमल-पिस्सू आदि कीड़े और दुर्गन्ध न हों। सोनेका कमरा और बिछौना न भींगा हुआ हो और न उसमें सील हो, इस विषयमें सावधान रहना चाहिये, जाड़ेके दिनोंमें चारों ओरकी खिड़कियाँ और दरवाजा बन्द करके सोना अच्छा नहीं है। रोज बिछौनेको झाड़ना और धूप दिखाना आवश्यक है। एक बात और यह है कि जो युवक, विद्यार्थी-अवस्थामें हैं, वे यह स्मरण रक्खें कि हम ब्रह्मचारी हैं। उनके लिये किसी प्रकारके आरामकी ओर दृष्टि न रखना ही उत्तम है। कम्बल बिछाकर सोना चाहिये और एकके बिछौनेपर दूसरा न सोवे, इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये। सोनेके समय सांसारिक भावनाओंका चिन्तन करते-करते सोना उचित नहीं है; इससे गहरी नींदमें बाधा होती है। सत् चिन्तन अथवा भगवान्‌का स्मरण करते-करते सोनेसे विघ्न और स्वप्नशून्य नींद आती है। सोनेके पहले एक बार दिनभरके कर्मोंकी आलोचना करना और दिनमें किये हुए पापोंके लिये भगवान्‌से क्षमा माँगना तथा दूसरे दिन बल प्राप्त हो और असत्य तथा पापसे अपनी रक्षा हो सके, इसके लिये भगवान्‌से बलकी भीख माँगना आवश्यक है। रातको भोजन करते ही सोना उचित नहीं है।

रहनेका स्थान

सोनेका घर—सोनेके घरमें भण्डार और कपड़े आदि टाँगनेकी खूँटियाँ होना और अधिक सामान रखना बिल्कुल ही

ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक चीज़ कुछ-न-कुछ वायुका स्थान घेर लेगी। एक कमरेमें अधिक मनुष्योंका सोना भी उचित नहीं है। कमरेमें मिट्टीके तेलका लालटेन जलाकर सोना अनुचित है। घरके पास गन्दा नाला, पैखाना अथवा रसोईघर न हो। इन सब उपायोंसे ही घरकी वायु शुद्ध रहती है। जिन घरोंमें रोगी हों, उन घरोंमें वायुके आने-जानेका सुभीता और भी अधिक रहे, इस ओर गृहस्थको ध्यान रखना चाहिये। प्रतिदिन प्रातः-सन्ध्या घरके भीतर-बाहर, सब जगह झाड़ूसे बुहार देना आवश्यक है। एवं धूप-धूना आदिसे घरको सुगन्धित किया जाय तो और भी उत्तम है।

घर और बाहर दोनोंको लेकर ही संसार है। परन्तु घरके सम्बन्धमें हम बड़े उदासीन हैं, यद्यपि घरका प्रभाव हमारे स्वास्थ्यपर कम नहीं पड़ता। घर पक्का हो अथवा कच्चा, उससे कोई हानि नहीं होती। कुछ बातोंका ध्यान रखते ही स्वास्थ्यहानिकी सम्भावना नहीं रह जाती। घरमें सील न हो, वह ऊँचेपर हो, वायु और प्रकाशके आने-जानेके लिये खिड़कियाँ और दरवाजे हों, जलके निकासकी अच्छी व्यवस्था हो, उसके भीतर तथा बाहरकी नालियाँ साफ रहें। इसके लिये अधिक धन खर्च करना आवश्यक है, सो बात नहीं है। घरमें रहनेवाले सब लोग यदि कुछ परिश्रमी हों तो इन कामोंके लिये बाहरी आदमीकी आवश्यकता नहीं होती। गृहलक्ष्मियाँ यदि इन सब बातोंपर अधिक ध्यान देने लगें तो कोई झंझट ही न रहे।

स्वास्थ्यके अभावसे आज जो देशके घर-घरमें हाहाकारकी ध्वनि उठ रही है, वह अवर्णनीय है। भोजनकी कमीसे उतनी हानि नहीं होती जितनी हमारे आलस्य, अज्ञान और जातिके व्यर्थ अभिमानसे होती है। अपना काम अपने हाथों करनेमें कौन-सा अपमान है? पुराने जमानेमें हमारे देशके प्रतिष्ठित और सम्माननीय लोग भी अपना काम आप करनेमें कभी हिचकते नहीं थे। आज हम घर-बाहरमें जितने अपमानित होते हैं, उतने ही घरके कामोंसे हाथ सिकोड़ रहे हैं और जितना ही हमारे अन्दर कूड़ा जमा हो रहा है, उतना ही हम बाहरी रूप-रेखा सँवारनेमें लग रहे हैं। इसीलिये हमें अपने घरके इकट्ठे हुए कूड़े-करकटको झाड़ने-बुहारनेमें लाज आती है। गाँवोंमें जङ्गल हो गया है, मच्छरोंके आश्रय-स्थान और मलेरियाके प्रकोपसे गाँव प्रायः सूने हो रहे हैं, फिर भी हम गाँवके कूड़े और पोखरोंका कीचड़ निकाल फेंकनेमें कोई उत्साह नहीं दिखाते। इससे आगे चलकर हमारी कितनी दुर्दशा होगी, उसके स्मरणमात्रसे हृदय काँप उठता है। शिक्षाका अर्थ हमलोगोंने स्कूल-कालेजोंकी पुस्तकें कण्ठस्थ करना ही समझ रक्खा है। कैसे मनुष्य बना जाता है, मनुष्यकी भाँति कैसे रहा जा सकता है, इस बातकी शिक्षा कोई नहीं देता। हम भी इस ओरसे कम उदासीन नहीं हैं। इतनेपर भी अपने शिक्षित होनेका हमें अभिमान है!!

दसवाँ अध्याय

ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-संयम

जो आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हैं, उनके लिये शारीरिक और मानसिक पवित्रताको बनाये रखना सर्वथा आवश्यक है। कुचिन्ताओंके पोषण करनेसे अध्यात्मबल नष्ट होता है और शरीर तेजहीन हो जाता है। स्त्री-सम्बन्धी विचारोंसे बढ़कर भयङ्कर कुविचार और कोई नहीं हो सकता। यह विष जिसके मनमें प्रवेश कर जाता है, उसे शीघ्र ही जीर्ण कर डालता है। शरीर जिन सब धातुओंसे बना है, उनमेंसे रक्त ही सबसे बढ़कर सार पदार्थ है। अन्न ही रक्तके रूपमें परिणत होता है और फिर वह रक्त ही शुक्रका रूप धारण करता है। चञ्चल-प्रकृतिके युवक अविवेकके कारण अनेक प्रकारकी बुरी क्रिया और बुरी चिन्ताओंके द्वारा शरीरके इस महान् धातुको क्षय कर डालते हैं। यह कितनी भयानक हानि है, इस बातको जो नहीं समझ पाते, उनके समान भाग्यहीन और कोई नहीं है। बहुत ही क्षुद्र लालसाके लिये जो शरीरकी इस प्रधान धातुका विनाश करते हैं, उनको ऐसा भयानक परिणाम भोगना पड़ता है कि जिसके स्मरणमात्रसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं। हाय रे कोमलमति अदूरदर्शी युवको! तुम अकारण ही इस शुक्रको क्षय करके अपनी कितनी बड़ी

बुराई कर रहे हो, यह समझते नहीं। कितने युवक इस सामान्य मोहके वशमें होकर सदाके लिये अपने शरीर, स्वास्थ्य, मेधा, बल, तेज, सब कुछ खोकर अशेष दुःखसागरमें डूब जाते हैं।

छात्र-जीवनका ब्रह्मचर्य

मनुष्य जो कुछ बननेकी इच्छा रखता है अथवा जो कुछ बनेगा, उसका बीज अथवा संस्कार शिशुके कोमल मनरूपी खेतमें ही सबसे पहले बोया जाता है। वही उत्तरोत्तर पुष्ट होकर बढ़ता रहता है। पिता, माता और गुरुके कार्योंसे ही बालकोंके भविष्य-जीवनकी सामग्री संग्रहीत होती है। इसीलिये पिता, माता और गुरुको अपने-अपने कर्म, विचार और चरित्रके प्रति विशेष ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो उनकी इच्छा न होते हुए भी और उनकी बिल्कुल अजानकारीमें ही बालक उनके कुकर्मोंकी नकल करके अपने-अपने जीवनको दुःखमय बना डालेंगे।

युवावस्था आनेपर मनुष्यका शरीर पुष्ट, कार्यक्षम, सुन्दर और लावण्यमय होता है, साथ ही इसी समय मन भी सतेज होकर इन्द्रियोंकी सहायतासे अनेक प्रकारके ज्ञान और अभिज्ञताकी प्राप्ति-के लिये व्याकुल होता है। अच्छी शिक्षा न मिलनेसे और पहलेसे सावधान नहीं किये जानेसे इसी उम्रमें मनुष्य आरम्भमें मनोहर सुखरूप दीखनेवाले व्यसनोंमें फँस जाते हैं। इस समय एक ओर साधुभाव और मनुष्यत्वको प्राप्त करनेकी बलवती इच्छा और दूसरी ओर इन्द्रिय-भोगोंकी आसक्ति—ये दोनों दल मनुष्यको अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। इस समय वह जिस ओर झुक जाता है,

उसीके अनुसार उसका जीवन बन जाता है। इसी समयसे या तो वह साधु-जीवनकी सामग्रियोंका संग्रह करने लगता है, अथवा नाना प्रकारकी इन्द्रिय-परायणता, बुरे आचरण और बुरी आदतों-का शिकार होकर जीवनको कलङ्कित कर लेता है। इस समय जो एक बार अपने चरित्रको नष्ट कर देता है, वह फिर अनेक प्रयत्न करने और बहुत ही सावधान रहनेपर भी शायद अपने उस पवित्र जीवनको पुनः नहीं पा सकता। यौवनका देहलावण्य, सुन्दर मुखश्री, कर्म करनेकी छलकती हुई उमंगें और बुद्धिकी तीक्ष्णता ये सभी उसके भोगानलमें आहुतिस्वरूप बनकर भस्म हो जाते हैं। उसके पास बच रहते हैं, केवल आलसी, रोगी शरीर, भोगासक्ति और अपने किये हुए कुकर्मोंके लिये दारुण पश्चात्ताप। यौवनका वह लावण्य, वह सुन्दर मुखश्री, वह उत्साह, वह बल न जाने कहाँ चला जाता है। जवानीमें ही बुढ़ापा आकर सारे शरीरपर छा जाता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी दीपावली एक बड़े भारी आलस्य और शैथिल्यके घूम-भरे अन्धकार-में अपनेको छिपा लेती है। और मन क्षण-क्षणमें परितापकी अग्निसे जलता हुआ हाहाकार पुकारा करता है। फिर प्रतीकार-का कोई उपाय नहीं रह जाता। इसीलिये आरम्भसे ही धर्ममय जीवन बितानेकी इतनी आवश्यकता है, कि जिससे प्रकृतिके कीड़े चुपचाप शरीर और मनको जीर्ण न कर डालें। इसीलिये महर्षि मनुने सबको सावधान करके कहा है—

पूर्वे वयसि तत्कुर्यात् येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवन्न तत्कुर्यात् येनामुत्र सुखं वसेत्॥

वाल्कपनमें ऐसा कार्य करो जिससे बुढ़ापेमें सुख मिले, एवं जीवनभर ऐसा कार्य करो जिसके द्वारा परलोकमें सुख मिल सके।

जवानीकी शुरुआतमें ही जिसका आचरण बिगड़ गया, वह कभी धर्मका उपार्जन नहीं कर सकता और न कभी वह ईश्वर-परायण ही हो सकता है। इससे वह इहकाल या परकाल किसी कालमें भी सुखी नहीं होता। इसीलिये ऋषियोंने उपदेश दिया है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेत् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

सारथी जिस प्रकार घोड़ोंको अपने वशमें रखता है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष विषयोंमें प्रवृत्त इन्द्रियोंको यत्नपूर्वक संयमित करें। नीतिशास्त्रका उपदेश है—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

इन्द्रियोंका असंयम ही विपत्तिका मार्ग है, एवं उन इन्द्रियों-को जीत लेना ही सम्पदाका मार्ग कहलाता है। इन दोनों मार्गोंके शुभाशुभ फलपर विचार करके जिससे फल-सिद्धि हो, उसी शुभ मार्गपर चलना चाहिये।

पहले कहा जा चुका है कि यौवनमें भोग-लालसा बहुत ही बढ़ जाती है। इस वासनाके प्रवाहमें जो अपनेको डाल देंगे, वे बहकर गहरे अज्ञान-समुद्रमें जाकर सदाके लिये डूब जायँगे,

इसीलिये अपने देशके युवक बन्धुओंको हाथ जोड़कर सावधान कर देनेके उद्देश्यसे ही मैंने यह लेख लिखा है। देशकी भावी आशाके स्थान युवक बन्धुगण अपने इस दीन प्रौढ़ भाईकी बातको क्या नहीं सुनेंगे ?

असंयमी हो जानेपर मनुष्य जो कुछ करना चाहता है, सो नहीं कर सकता; जो बनना चाहता है, सो नहीं बन सकता। क्योंकि ब्रह्मचर्यकी रक्षा न होनेसे बल, उत्साह और तेज कहाँसे आवेगा ? अतएव यौवनके आरम्भमें केवल बल सञ्चय करना चाहिये, भोगकी ओर मन झुकाकर कदापि बलका क्षय नहीं करना चाहिये। चित्तके भोगासक्त होनेपर ब्रह्मचर्य अवश्य ही स्खलित हो जायगा। इसलिये जिससे भोगोंमें आसक्ति उत्पन्न न होकर उनसे घृणा हो, ऐसी ही पुस्तकोंका पढ़ना, ऐसी ही शिक्षा प्राप्त करना और ऐसी ही आलोचना करना युवकोंका परम कर्तव्य है। केवल मनमें विचार कर लेनेसे ही काम नहीं चलेगा, निश्चयके अनुसार ही काम भी कर दिखाना होगा। मनको बार-बार यह समझा देना होगा कि 'मैं ब्रह्मचारी हूँ, मुझे किसीके आशङ्का अथवा उद्वेगका कारण नहीं बनना पड़े, भोगोंका दृश्य सामने आते ही मैं अपनी आँखों और मनको उधरसे हटा लूँ। मेरा मन भोगके लिये लालायित होकर कलुषित न हो। मैं सब प्रकारकी लुभानेवाली वस्तुओंके डरसे छूट जाऊँ, इसी प्रकार मुझसे भी सब लोग अभय हो जायँ। खिले हुए सुगन्ध-भरे पुष्पको लालसाके वशमें होकर मैं उसे पशुके समान चबा न जाऊँ।'

जगत्‌में वह सुचरित्रवान् पुरुष ही सबसे बढ़कर पूजनीय, एवं वीरश्रेष्ठ है, जो प्रलोभनकी वस्तुओंसे अपने चरित्रको निर्मल रख सकता है। चरित्रवान् व्यक्ति ही जगत्‌में सबकी अपेक्षा अधिक सम्मान प्राप्त करते हैं और चरित्रहीन ही सबकी अपेक्षा अधिक निन्दनीय होते हैं। दुराचारी मनुष्यसे लोग साँप अथवा बाघकी अपेक्षा भी अधिक डरते हैं। अतएव चरित्र-रक्षाके लिये प्राणपणसे चेष्टा करना प्रत्येक युवकका सर्वप्रधान कर्तव्य है। जिस शिक्षाके फलसे सदाचारकी रक्षा नहीं होती, वह उच्च शिक्षा नहीं है। अशिक्षित, अज्ञ, दरिद्र मनुष्य भी यदि चरित्रवान् हैं, तो वह शिक्षित असच्चरित्र मनुष्यकी अपेक्षा हजारगुना अधिक श्रेष्ठ हैं। चरित्रहीनकी ऊँची शिक्षा वन्दरके गलेमें हारकी भाँति सर्वथा निष्फल है। उच्चशिक्षित व्यक्ति यदि चरित्रहीन है, तो वह भी मनुष्योंकी श्रद्धाको अपनी ओर नहीं खींच सकता। सत्यके प्रति निष्ठा, विद्याका अनुशीलन, सत्कार्यमें साहस, निःस्वार्थ परोपकार, चाहे जैसे भी त्यागके लिये सदा तैयार रहना, इन्द्रिय-संयम, साधुके प्रति प्रेम और साधुकार्यमें उत्साह, कर्तव्य-कर्ममें दृढ़ता, परनिन्दा और परचर्चासे आन्तरिक घृणा, निन्दनीय कर्मोमें अत्यन्त वैराग्य तथा भगवान् और भगवान्‌के भक्तके प्रति अनन्य अनुराग–इन सद्‌गुणोंसे विभूषित होनेपर ही मनुष्य चरित्रवान् कहलाता है। चरित्रबल न होनेसे मनुष्यमें धैर्य, सन्तोष, सहिष्णुता, भय-शून्यता, तेजस्विता आदि ऊँचे गुण कभी नहीं टिक सकते, सत्त्वहीन पुरुष जिस प्रकार संसारमें प्रतिष्ठा नहीं पा सकता, उसी

प्रकार वह आत्मज्ञान, भक्ति, प्रेम या दैवी-सम्पदाका भी अधिकारी नहीं हो सकता। इन सब सम्पदाओंके वास्तविक अधिकारी वे ही हो सकते हैं, जो साधनाके बलसे बलवान् हैं। इन्द्रियासक्त, चरित्रहीन, निर्वीर्य पुरुष तपस्याका कष्ट नहीं सह सकता, इसलिये वह शक्ति प्राप्त करने अथवा साधनामें सिद्धि पानेकी आशा भी कभी नहीं कर सकता। प्रह्लाद, ध्रुव, व्यास, वशिष्ट, भीष्म, अर्जुन, हरिदास, रघुनाथ आदि ज्ञानी और भक्तशिरोमणि महात्मा सहिष्णु, वीर और तपोवीर्यसम्पन्न थे। वे ब्रह्मचर्यमें अटल-प्रतिष्ठ थे, इसीलिये तपस्याका बड़े-से-बड़ा कष्ट उन्हें मार्गसे नहीं हटा सका। जीवनको कृतकृत्य करनेके लिये इन पुरुषसिंहोंके दृष्टान्तका अनुकरण करना आवश्यक है।

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

सब तपस्याओंमें ब्रह्मचर्यका पालन श्रेष्ठ तपस्या है। ऊर्ध्व-रेता ब्रह्मचारी देवतातुल्य हो जाते हैं। शुक्र-धारण ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। बिन्दु-धारणके द्वारा ही सत्त्व अर्थात् सब प्रकारसे बलकी प्राप्ति होती है। मस्तिष्क पूर्णरूपसे पुष्ट हो जाता है। इसीसे बुद्धि और स्मरणशक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। देहादिका नाश वास्तवमें मृत्यु नहीं है, ब्रह्मचर्यशून्य जीवन ही यथार्थ मृत्यु है।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

जिन गुणोंके कारण मनुष्योंको मनुष्य कहा जाता है, उनमें-से एक भी सद्गुणका उन मनुष्योंमें विकास नहीं हो सकता, जो

इन्द्रियाराम होकर इस प्रधान धातु (वीर्य) को नष्ट कर डालते हैं। इसी-लिये ब्रह्मचर्यके अभावको मृत्यु कहा गया है, क्योंकि इस प्रकारकी अवस्थामें मनुष्यका मनुष्यत्व कुछ भी नहीं रह जाता। जब मनु-ष्यत्व ही न रहा, तो जीना, न जीना समान ही है। मानसिक और शारीरिक सभी प्रकारके बलका मूल कारण यह शुक्र-धातु है। *'शुक्रधातुर्भवेत् प्राणः।'* शुक्रधातु ही प्राणीका प्राण-स्वरूप है। शुक्र धारण न कर सकनेपर आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक किसी प्रकारके भी बल प्राप्त करनेकी सम्भावना नहीं है। बलहीन व्यक्ति आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे तो सदा वञ्चित रहते ही हैं, पर उन हीनवीर्योंकी सांसारिक उन्नति भी असम्भव है। विद्यालयोंके छात्र कुसङ्गति और प्रमादके वश होकर इस शुक्रका नाश करनेवाले बुरे-से-बुरे काममें लग जाते हैं। यह एक प्रकारसे आत्महत्याके समान है, किन्तु अल्पबुद्धि बालक और चञ्चलबुद्धिके युवक आरम्भमें मधुर प्रतीत होनेवाले इस भयङ्कर पापके अनिष्ट फलको समझ नहीं पाते। उनका यह दुर्भाग्य है कि इस सम्बन्धमें पिता, माता, शिक्षक अथवा अभिभावक उन्हें आवश्यक उपदेश नहीं देते। सतर्क और सावधान कर देनेपर, सम्भव है, इस प्रकारके महान् अनिष्टकी सम्भावना जल्दी न होती और बालक भी इसकी महान् बुराइयोंको समझकर अपनेको कुछ बचा सकते, परन्तु उनकी इस विपत्तिकी बात उन्हें कोई नहीं समझाता, कोई भी इस बुरी आदतमें पड़नेसे उन्हें नहीं रोकता। परिणाम यह होता है, बहुत छोटी उम्रसे ही बच्चे इस गन्दी

आदतके शिकार होकर आत्महत्या करने लगते हैं। एक बार आदत पड़ जानेपर, उससे छुटकारा पाना कितना कठिन है यह सभी विज्ञ पुरुष जानते हैं। फिर सैकड़ों उपदेशोंसे और बार-बार सावधान करनेसे भी कोई फल नहीं होता। अतएव लम्बे समय-तक इस आदतके शिकार होकर इसके दृढ़ संस्कार बन जानेसे पहले ही चञ्चलचित्त बालकोंको इससे बचानेका उपाय करना प्रत्येक शुभकामी पुरुषके जीवनका एक सर्वप्रधान कर्तव्य हो जाना चाहिये। बालकोंको दूसरी शिक्षाएँ उतनी मिलें या न मिलें, पर यह नैतिक शिक्षा तो उन्हें निश्चय ही मिलनी चाहिये।

सब प्रकारसे ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके उपाय-स्वरूप ब्रह्मचर्य-पालनके लाभोंको हृदयङ्गम करके जिससे बालक शुक्र-धारण करनेका ध्यान रखें ऐसा उपाय निश्चित करना उनके अभिभावकोंका सबसे पहला कर्तव्य होना चाहिये। प्रत्येक शिक्षक-को यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकारके सदुपदेश देकर बालकोंकी रक्षा करना उनका कर्तव्य और धर्म है। ब्रह्मचर्यकी स्थिरता होनेपर उसके द्वारा जितना शारीरिक और मानसिक बल प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें बड़ी भारी विद्या, महान् धन-सम्पत्ति-की प्राप्ति आदि सब कुछ तुच्छ हैं। भगवद्भजनका साधन भी इसके बिना गौण ही ठहरता है। क्योंकि ब्रह्मचर्यके भ्रष्ट होनेपर भगवद्भजन, योगसाधना, ज्ञानचर्चा और देशभक्ति आदि सभी बाल-चापल्यमात्र हो जाते हैं। आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्-प्राप्ति आदि उसीके लिये सम्भव हैं, जो शुक्रके और मनोवेगके

धारण करनेमें समर्थ है। स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवक इनमेंसे जो संयमके अभ्यासी होंगे, वे ही साधन-भजनका वास्तविक फल प्राप्त कर सकेंगे। सांसारिक सुख-सम्पत्तिका भोग भी संयमशील पुरुष ही कर सकते हैं। दुर्बल शरीर तो रोगोंके रहनेकी जगह है, अतएव दुर्बल शरीरवाला पुरुष भोगोंके भोगनेमें असमर्थ ही रहता है। जो शरीरकी सर्वप्रधान धातुकी रक्षा नहीं कर सकता, उसका शरीर जीर्ण और बलरहित हो जाता है, इसलिये वह किसी भी मेहनतसे होनेवाले काम करनेमें डरता है; और इस प्रकारके परिश्रम-कातर मनुष्योंके लिये, सांसारिक अभ्युदय प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। ब्रह्मचर्यके बिना ऐश्वर्य, विद्या, मान, प्रतिष्ठा सभी निष्फल हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्यके अभावसे ही हम दीन-हीन कङ्गाल बन जाते हैं, हमारा कोई-सा भी बाहरी ऐश्वर्य हमें इस दीनतासे छुटकारा नहीं करा सकता। परोपकारकी प्रवृत्ति मनुष्यको देवता बना देती है, परन्तु जो वीर्यवान् नहीं है वह परोपकार नहीं कर सकता। परोपकार-वृत्ति त्याग और कष्ट-सहनके द्वारा ही चरितार्थ होती है, किन्तु त्याग वही कर सकता है, कष्ट वही सह सकता है जो वीर्यधारणमें समर्थ है। असंयमीके चित्तमें किसी सुकुमार वृत्तिका ही उदय नहीं हो सकता, ज्ञान-भक्ति तो दूरकी बात है। ऐसे लोग जो ज्ञान-भक्तिकी डींगें हाँकते हैं सो उनका वृथा वागाडम्बरमात्र है।

निर्वीर्य मनुष्य साधनामें सिद्धि प्राप्त करनेकी आशा नहीं कर सकता। हम जो अपने निश्चयपर डटे नहीं रह सकते

हैं, इसमें यह बलहीनता ही कारण है। पितामह भीष्म जो असाधारण दृढ़प्रतिज्ञ, अपराजेय वीर, अटल सत्यवादी, निर्भीक और दृढ़ कष्टसहिष्णु थे, इसका एकमात्र कारण उनका अटूट ब्रह्मचर्य ही था। इस अटूट ब्रह्मचर्यके बलपर ही वे भगवान्‌के प्रियभक्त और ज्ञानविशारद बन सके थे एवं इच्छामृत्युके द्वारा एक प्रकारसे उन्होंने मृत्युको भी जय कर लिया था। योगीके अतिरिक्त 'इच्छामृत्यु' कोई नहीं हो सकता और स्थिर ब्रह्मचर्यके बिना कोई योगी नहीं बन सकता। लक्ष्मण, भरत, युधिष्ठिर, अर्जुन, कर्ण आदि महामनीषीगण जो संसारके इतिहासमें चिरस्मरणीय बन सके हैं, जिनकी कीर्तिका गान कर न मालूम कितने कवि यशस्वी और अमर हो गये हैं,—वे सब ब्रह्मचर्यमें अटलप्रतिष्ठ थे। उस महान् और विराट्‌की प्राप्ति केवल चरित्रवान् और संयमशील पुरुष ही कर सकते हैं। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें केवल वे ही समर्थ होते हैं। श्रुति कहती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो मनुष्य शास्त्र-निषिद्ध पाप-कर्मको नहीं छोड़ता है, जो अशान्त है अर्थात् इन्द्रियभोगमें लगा हुआ है, जो असमाहित अर्थात् चञ्चल है, जो अशान्तमानस अर्थात् फल-कामनामें अति आसक्तचित्त है, वह इस चैतन्यस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता। वह यदि विद्वान् और ब्रह्मविषयक विचारवान् भी हो, तो भी असदाचारी होनेके कारण केवल विद्या और सुतीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा इस आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

जो दीर्घायु होना चाहते हैं, पारमार्थिक ज्ञान और भगवद्भक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें प्राणपणसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ।

ब्रह्मचर्य-रक्षाका उपाय

संयमका अभ्यास करनेके लिये सत्सङ्ग और सत्-अभ्यासमें लगना पड़ेगा । इस विषयमें कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बातें लिखी जाती हैं ।

(१) *अपरिग्रह या भोगोंका त्याग*—लोगोंसे कोई चीज न लेनेका नाम ही अपरिग्रह नहीं है । भोग्य वस्तुमात्रमें उपेक्षा हो जाना वास्तविक अपरिग्रह है । जो भोग्य वस्तुओंकी ममताको नहीं त्याग सकते, उनके लिये संयम-साधन दुराशामात्र है । अतः छात्र-जीवनमें विलासिताका त्याग कर देना आत्म-संयमका एक प्रधान उपाय है । इसीलिये प्रत्येक छात्रको इस विषयमें विशेषरूप-से सावधान रहना चाहिये । इससे दो उपकार होंगे; एक तो जो बालक अपने पिता अथवा अन्य अभिभावककी कमाईपर जीवन निर्भर करता है, वह अपने अभिभावकपर व्ययका बोझा नहीं बढ़ायेगा, दूसरे भविष्यमें गृही होनेपर जब उसे स्वयं गृहस्थी चलानी पड़ेगी, तब पहले मितव्ययिताकी शिक्षा पा चुकनेके कारण, थोड़ी ही कमाईसे सहज ही वह अपनी गृहस्थी चला सकेगा और अधिक आमदनी होनेपर भी शौकीनी और ठाट-बाटमें अधिक खर्च न करके वह दूसरोंके अभावको पूर्ण करनेमें धन लगा सकेगा । जिनमें विलासिता नहीं है, उन्हें अन्यायपूर्वक धन कमानेकी

आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव विलासिताका त्याग सदाचार और सुनीति-शिक्षाका सर्वोत्तम उपाय है।

(२) *सत्य बोलनेका साहस*—यह भी ब्रह्मचर्य-रक्षाका एक प्रधान उपाय है। सत्यवादी कभी दुराचारी नहीं हो सकता। कदाचित् होगा भी तो सत्यके भयसे वह तुरन्त ही सावधान हो जायगा। सत्यभाषण मनुष्यको निष्कपट और सरल बनाता है। सत्यवादी सभी महान् गुणोंसे अलङ्कृत हो जाता है और मनुष्यमात्रकी श्रद्धाको अपनी ओर खींच लेता है। ऐसा अन्य और किसी उपायसे नहीं हो सकता। परन्तु बाल्यावस्थामें यदि सत्यकी शिक्षा न दी गयी तो फिर किसी अवस्थामें भी उसकी सम्भावना नहीं है। भगवान् सत्यस्वरूप हैं। अतः जो सत्यका सेवन करता है वही साक्षात् परमेश्वरका भजन करता है। कपटी और मिथ्यावादीका भगवद्भजन तो सर्वथा छल है।

(३) *दया अथवा मैत्री-भावना*—जीवमात्रके प्रति दया और मैत्री-भावनाके द्वारा चित्तकी सङ्कीर्णता नष्ट होती है। जिसका चित्त उदार है वह कभी नीच-कर्म और अश्लील-चिन्तन नहीं कर सकता। जिस कर्मसे किसी जीवको कष्ट पहुँचे या किसीकी क्षति हो, वैसा कर्म करनेकी कभी उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। दयालु पुरुष स्वाभाविक ही सबकी कल्याण-कामना करता है। विपत्तिमें पड़े हुएको बचाना, रोगीकी सेवा करना और आर्तको सान्त्वना देना दयालु पुरुषका स्वभावसिद्ध धर्म है। इस सेवा-व्रतको वही भलीभाँति पूर्ण कर सकता है जो निःस्वार्थ, बलिष्ठ,

उदारचित्त, भगवद्भक्तिपरायण और ज्ञानानुशीलनमें तत्पर हो। ये सब महान् गुण दुश्चरित्र मनुष्यमें नहीं रह सकते। सुतरां 'साधना जगत्हित, कामना जगत्हित'—यह जिसके जीवनका धर्म और लक्ष्य है, उसे संयमी होना ही होगा। ब्रह्मचर्यविहीनके लिये संयम असम्भव है। अतएव सब प्रकारकी विलास-वासना, असत्यका आचरण और दूसरेका अपकार करना ब्रह्मचर्यके लिये बड़ा बाधक है। ठीक समयपर सोना और जागना, विद्याभ्यास, व्यायाम, खुली हवामें घूमना, प्रातःस्नान, हल्का और सात्त्विक भोजन, प्राणायाम आदि योगाभ्यास, यम-नियम, जप और उपवास, भगवन्नाम-कीर्तन और श्रवण, साधुसेवा और सद्ग्रन्थ-पाठ, बीच-बीचमें निर्जनवास और संसारी पर-चर्चासे अरुचि—ये मानसिक बीमारीसे छूटनेके उपाय हैं। संयम-साधनके लिये प्राण और मनको स्थिर करना भी एक सर्वोत्तम साधन है। योगशास्त्रमें लिखा है—

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥

मनके स्थिर होनेपर प्राणवायु स्थिर होती है, वायुके स्थिर होनेपर वीर्य स्थिर होता है, जो स्थिर-वीर्य है वह सदा बलवान् रहता है और उसके देहकी अस्थिरता भी नाश हो जाती है।

इन सब साधनोंके द्वारा वीर्य-लाभ करनेपर ज्ञानालोचना-की योग्यता प्राप्त होती है तथा उसके लिये मुक्ति प्राप्त करना सहज हो जाता है। अन्यथा—

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

जबतक प्राणवायु सुषुम्ना-मार्गमें प्रविष्ट नहीं होती, जबतक वायुके संयमसे बिन्दु स्थिर नहीं होता और जबतक ध्यानावस्थामें चित्त ध्येय वस्तुके साथ एक नहीं हो जाता, तबतक ज्ञानकी ऊँची-ऊँची बातें करना एक प्रकारका प्रलाप और दम्भ ही समझना चाहिये।

इसीलिये इस पुस्तकमें प्राणायामादि योगाङ्गसाधनाकी ज़रा विस्तारसे आलोचना की गयी है। बाल्यावस्थामें और यौवनके प्रारम्भमें यदि भोगेच्छाको वशमें करके ब्रह्मचर्य-पालनमें दृढ़ता न दिखा सके, तो तुम्हारा सारा जीवन बड़ी भारी व्यर्थतासे छा जायगा। जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं वे यदि ज्ञानके द्वारा इन इन्द्रियोंको, विशेषतः मनको वशमें नहीं रख सकें, और भोगके द्वारा मन और अन्यान्य ज्ञानद्वारोंको कलुषित कर डालें, तो परम पवित्र अत्यन्त निर्मल भगवत्-स्पर्शकी प्राप्ति उन्हें कैसे हो सकती है? मलदूषित इन्द्रियद्वारसे निर्मल भगवद्भावकी स्फूर्ति प्राप्त होना असम्भव है। जो इच्छामात्रसे ही बाहर विचरनेवाली इन्द्रियोंको विषयसे विमुख नहीं कर सकते, उनकी प्रज्ञा कदापि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। वे शान्ति प्राप्त करनेमें भी कभी समर्थ नहीं होते। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं, उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। इन्द्रिय-संयमके बिना स्थितप्रज्ञ होना असम्भव है।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

इसी प्रकारके पुरुष प्राप्तकामनाओंका त्याग करनेमें समर्थ एवं निरहङ्कार होते हैं। इसलिये अप्राप्त वस्तुके प्रति लोभ न होनेसे वे निःस्पृह हैं और भोगकी किसी भी वस्तुमें मेरापन नहीं रखते हैं। भाग्यवश उन्हें जो मिल जाता है—उसीका उपभोग करके शान्ति प्राप्त करते हैं।

असंयमी पुरुषको विषयकी प्राप्तिके लिये जिस प्रकार व्याकुलता रहती है, संयतात्माके हृदयमें उसी प्रकार परमपावन परमात्माके दर्शनके लिये अत्यन्त आग्रह उत्पन्न हो जाता है। भगवान्‌के लिये अत्यन्त आग्रह होना भगवद्भक्तिका ही दूसरा नाम है। जिस ज्ञानको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् और कुछ कर्तव्य नहीं रह जाता, जिस ज्ञानके समान पवित्र वस्तु और कुछ भी नहीं है—उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भी संयमके साधनकी आवश्यकता है। भगवान् कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

जो श्रद्धावान् अर्थात् गुरु और श्रुतिवाक्यमें आस्तिकबुद्धि रखते हैं, एवं तत्पर अर्थात् तदेकनिष्ठ उद्यमशील हैं, एवं जिनकी इन्द्रियाँ संयत हैं वही ज्ञान प्राप्त करते हैं।

संयम और सच्चरित्रता ही भगवान्‌के प्रेमका प्रमाण है। नहीं तो संयमहीन होकर दुर्बलभावसे भगवान्‌को चाहना केवल मौखिक जल्पनामात्र है।

जिस देशके युवक-युवतियोंमें चरित्रबल नहीं होता, उस देशका अभ्युदय कभी नहीं हो सकता। अतएव देशका मङ्गल चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको संयम-साधनमें तत्पर होना चाहिये। असंयतचित्त ही बहुधा विक्षिप्त होता है और विक्षिप्तचित्त ही प्रमादका घर है। प्रमाद-भरे चित्तसे सफलता प्राप्त करना असम्भव है। प्रमादके बन्धनसे वही छूट सकता है जो स्थिरचित्त है, जो एकाग्र है। स्थिरचित्त और एकाग्र वही हो सकेगा जो वीर्यधारण करनेमें सुचतुर है।

पहले हमारे देशमें कैसी सुन्दर व्यवस्था थी। ब्रह्मचर्याश्रममें भलीभाँति सुप्रतिष्ठित हो चुकनेपर ही स्त्री-ग्रहण (विवाह) करनेकी आज्ञा मिलती थी। ब्रह्मचर्याश्रमकी कितनी कठोर अग्नि-परीक्षामें अपने भविष्यत्-जीवनका मार्ग भलीभाँति साफ कर लेना पड़ता था। आजकलके ब्रह्मचर्यविहीन उच्छृङ्खल जीवनकी दशाका विचार आते ही एकदम हताश हो जाना पड़ता है। महर्षि मनुने ब्रह्मचारियोंके लिये कैसे सुन्दर नियम बनाये हैं—

> नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
> देवताभ्यर्चनञ्चैव समिदाधानमेव च॥
> वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
> शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम्॥

अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥

ब्रह्मचारी प्रतिदिन स्नान करके शुद्ध भावसे ऋषि और पितृगणोंका तर्पण करें, देवताओंकी पूजा करें एवं सायं-प्रातः समिधाके द्वारा होम करें । ब्रह्मचारी मधु (मद्य) और मांसका सेवन न करें; सुगन्ध द्रव्य-सेवन, माल्यादि-धारण, गुड़ आदि रसग्रहण और स्त्री-सम्भोग न करें; जो वस्तुएँ स्वभावसे मीठी हैं किन्तु किसी कारणवश खट्टी हो जाती हैं जैसे दही आदि, उन सब शुक्त वस्तुओंको त्याग दें और प्राणियोंकी हिंसा न करें । तेल मलना, काजल या सुरमा डालना, जूते पहनना, छाता लगाना, काम, क्रोध और लोभके वशमें होना, नाचना, गाना, बजाना, जुआ आदि खेलना, लोगोंसे व्यर्थ कलह, दूसरोंकी खबरें जानना, कहना, झूठ बोलना, बुरी नीयतसे स्त्रियोंकी ओर देखना, उनका आलिङ्गन करना और दूसरेकी बुराई करना—इन सब बातोंसे ब्रह्मचारी सदा अलग रहें। सदा अकेले सोवें एवं हस्तादिद्वारा कभी वीर्यपात न करें । जो कामवश वीर्यपात करते हैं, वे अपना

(ब्रह्मचर्य) व्रत सर्वथा नष्ट कर डालते हैं। यदि अनिच्छासे कभी ब्रह्मचारीको स्वप्नदोषसे भी वीर्यपात हो जाय तो वे स्नान करके सूर्यदेवकी पूजा करें एवं *'पुनर्मामेतु इन्द्रियं'*—'हमारा वीर्य फिरसे लौट आवे' इत्यादि वेद-मन्त्रोंका तीन बार जप करें।

विवाहित-जीवनका ब्रह्मचर्य

हमारे पूज्यपाद ऋषि विवाहित-जीवनमें भी ब्रह्मचर्यको अटल रखते थे। *'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्'* यह हमारे शास्त्रका आदेश है। स्त्रीको भोगकी सामग्री मान लेनेसे धर्मकी हानि होती है, इसीलिये स्त्रीको वे सहधर्मिणी मानते थे। सत्पुत्र उत्पन्न करना देशके और अपने वंशके लिये एक महान् कल्याणका विषय है एवं इसके लिये हम देश और पितृगणके धर्मतः ऋणी हैं। जो स्त्रीके प्रति पशुका-सा व्यवहार करते हैं वे अपने सारे कर्तव्य और धर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं। काम-वृत्तिकी पूर्तिके फलस्वरूप जो पुत्रादि उत्पन्न होते हैं, वे प्रायः हीनबल, विकलेन्द्रिय, कामी, कुढंगे और रोगी होते हैं, एवं व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर बोझ बढ़ाते हैं। इसमें पिता-माताकी कितनी बड़ी जिम्मेवारी है! परन्तु हाय, इस ओर हमारी बिल्कुल ही दृष्टि नहीं है। इसपर भी हम देशके कल्याणके लिये व्याकुल हैं।

महर्षि मनुने स्त्री-सहवासके विधि-निषेधकी जो व्यवस्था की है, वह इस प्रकार है—

स्त्रीगमन-विधि

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

ऋतुकालमें स्वस्त्रीगमन करना चाहिये । ऋतुकालका कदापि उल्लङ्घन न करे । ऋतुकालके अतिरिक्त अन्य दिनोंमें भी रति-कामनासे स्त्री-सम्भोग कर सकते हैं, (परन्तु इस प्रकारका स्त्रीगमन निषिद्ध न होनेपर भी कदापि कल्याणकारी नहीं है) । किन्तु ऋतुकाल हो अथवा अन्य समय हो, अमावस्या आदि पर्वदिनोंमें विशेषरूपसे वर्जित है । शिष्टजनोंद्वारा निन्दित पहले चार दिनों-समेत स्त्रियोंका ऋतुकाल सोलह दिनोंतक जानना चाहिये । उनमेंसे पहली चार रातें और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात, ये छः रातें स्त्रीगमनके लिये निषिद्ध हैं; शेष बची हुई दस रात्रियाँ प्रशस्त हैं । जो इस प्रकार निन्दित छः रातोंका और अनिन्दित दस रातों-मेंसे कोई-सी भी आठ रातोंका—कुल चौदह रातोंका त्याग करके पर्व-वर्जित केवल दो रातोंमें स्त्री-संगम करते हैं, वह गृहस्थ होने-पर भी ब्रह्मचारी ही हैं । उनके ब्रह्मचर्यमें कोई हानि नहीं होती ।

निषिद्ध काल

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥

अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी इन तिथियोंमें स्त्री ऋतुस्नाता होनेपर भी स्नातक द्विजको उपगत न होकर ब्रह्मचर्यका ही पालन करना चाहिये।

जो लोग मूर्खतावश रजोदर्शन-काल और पर्वकालमें भी स्त्रीसहवास करते हैं, वे अपने और स्त्रीके शरीरको स्वास्थ्यसुखसे वञ्चित कर डालते हैं और भविष्यमें ऐसे माता-पितासे वीर्यवान् सन्तान पैदा होनेकी भी सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये मनु महाराजने कहा है—

> नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
> समानशयने चैव न शयीत तया सह॥
> रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
> प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥

रजोदर्शनकालमें असावधान होकर स्त्री-संगम न करे, न उसके साथ सोये। जो रजस्वला स्त्रीके प्रति गमन करता है, उसकी प्रज्ञा, तेज, बल, आँखें और आयु नष्ट हो जाती हैं। आजकल जो हमारे देशमें स्त्रियाँ इतनी बीमार रहती हैं और उनकी इतनी अधिक अकाल-मृत्यु होती हैं इसके कारणोंमें उपर्युक्त विधिनिषेधका पालन न करना भी एक बड़ा कारण है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि स्त्रियोंके स्वास्थ्यपर ही गृहस्थकी सुव्यवस्था, घरके लोगोंका आराम और शिशुओंका बल तथा स्वास्थ्य निर्भर करता है। स्त्रियोंकी जिम्मेवारी कम नहीं है। यह बात प्रत्येक विवाहिता

स्त्रीको ध्यानमें रखनी चाहिये। पतियोंको भी इस विषयमें खूब ही सावधान रहना चाहिये। इन दिनोंमें ऋषियोंने स्त्री-पुरुषके एक साथ सोनेका शास्त्रोंमें जो निषेध किया है, वह उनकी बड़ी भारी अभिज्ञताका फल है। एक साथ सोनेसे बलवान् इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही उत्तेजित हो सकती हैं और जलके स्रोतमें जिस प्रकार तिनका बह जाता है उसी प्रकार ज्ञान और धैर्य भी पाशविक उत्तेजनाके समय लुप्त हो जा सकते हैं। इस भावनाके सम्बन्धमें पहलेसे ही सावधान रहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

दिनमें, सायङ्कालमें और उषाकालमें स्त्री-सम्भोग न करे। शारीरिक और मानसिक बीमारीके समय अथवा अत्यन्त क्रोधी होकर संसर्ग न करे। इस विषयमें जो जितना अधिक संयम रख सकेंगे, वे उतनी ही आसानीसे आध्यात्मिक बल प्राप्त कर सकेंगे। अच्छी सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ऐसा सुन्दर उपाय और कोई नहीं हो सकता। '*शुक्रधातुर्भवेत् प्राणः*'—शुक्र ही हमारी जीवनी-शक्ति है। जो जितना अधिक शुक्र क्षय करेंगे उतना ही अधिक उनका शरीर और मन दुर्बल हो जायगा, सारी स्नायविक-शक्ति जीर्ण-शीर्ण हो जायगी, शरीर अनन्त प्रकारके रोगोंका घर बन जायगा और उन्हें मस्तिष्कहीन होकर विवेक-बुद्धि-शून्य मूर्खकी भाँति जहाँ-तहाँ भटकना पड़ेगा। भाई! यदि भोग, सुख, आनन्द, विद्या और ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो शुक्र धारण करनेकी पूरी चेष्टा करो। क्योंकि शुक्र ही सारे सुखोंका निदान और सारी उन्नतियोंका मूल है, '*तद्विष्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम्*'

शुक्र धारण करना सर्वथा असम्भव हो, ऐसी बात नहीं है । स्त्री-विषयक साधारणसे चिन्तनसे ही वीर्य स्खलित होता है, अतएव स्त्री-सम्बन्धी चिन्तनसे मनको बचाना मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है । इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये भी पुरुषका चिन्तन सर्वथा वर्जित है । चेष्टा करनेपर इस विषयमें सभी सफल हो सकते हैं । जिसका जिस विषयमें अभिनिवेश नहीं है, उसके मनमें उस विषयका विचार ही नहीं उत्पन्न होता । छोटे बच्चे इस विषयको जानते ही नहीं । भोगचिन्तारहित शिशुओंकी भाँति जिनका चित्त सरल, स्वस्थ और सुन्दर है, उनको कोई आशङ्का नहीं है । यदि मस्तिष्क अन्य किसी कारणवश उत्तेजित न हो और चित्त यदि अनेक प्रकारके सत्कार्यों और सद्विचारोंमें निरन्तर लगा रहे, प्रतिदिन नियमितरूपसे व्यायाम किया जाय एवं कुभावोंको उत्पन्न करनेवाले साधन जरा-सी देरके लिये मनमें न टिक सकें तो वीर्यके स्खलित होनेकी सम्भावना बहुत ही कम रहती है । बुरा चिन्तन मन और मस्तिष्कको बहुत ही दुर्बल बना देता है । अतः गन्दे नाटक और उपन्यासोंका पढ़ना, नाटकोंमें गन्दे खेल देखना, बुरी बातों-की आलोचना करना, जहाँ ऐसा प्रसङ्ग चल रहा हो वहाँ बैठना अथवा अश्लील गायन आदि सुनना तरलमति युवकोंके लिये सर्वथा निषिद्ध है क्योंकि ये बातें ब्रह्मचर्यके लिये बड़ी हानिकर हैं । भविष्यत्‌में माँका स्थान ग्रहण करनेवाली युवतियोंको भी इन उपदेशों-का अवश्य पालन करना चाहिये । वे यदि संयमशील न बनेंगी तो उनके पुत्र-कन्या संयमके पालनमें कैसे समर्थ होंगे ।

संयमहीन पुत्र-कन्याएँ पिता-माताके कैसे उद्वेग और क्लेशके कारण बनते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। माताएँ स्वयं संयमी होकर अपनी सन्तानको संयमकी शिक्षा दे सकें, तभी उनका माँ होना सार्थक है। जो माता अपनी सन्तानको संयमके लिये विशेषरूपसे उत्साहित नहीं कर सकती, वह जननीका पवित्र पद पानेके लिये सर्वथा अयोग्य है। माताएँ ही यदि सन्तानके भविष्य-कल्याणकी ओर दृष्टिपात न करेंगी तो इस हतभाग्य देशके लिये और कोई उपाय नहीं है। उनकी सन्तान अकालमृत्यु और दुःखमय जीवनके द्वारा उन्हींके किये हुए कर्मोंका प्रायश्चित्त करेगी।

सार यह है कि हम अपने अभ्युदयके लिये कितना ही आन्दोलन क्यों न करें, यदि हम बालक और युवकोंको व्यर्थके वीर्य-क्षयके कार्यसे हटा न सकें, तो हमारी सारी चेष्टाएँ निष्फल जायँगी। शुक्र-क्षयके समान बुरा पाप और कोई नहीं है, यह बात यदि हमारे देशके युवक स्मरण न रख सकें, तो उनसे संसारके किसी शुभ कार्यकी आशा व्यर्थ है।

ग्यारहवाँ अध्याय

इच्छा-शक्ति और वासना-शुद्धि

योगवाशिष्टमें महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्य भरद्वाजसे कहते हैं—'वासना ही पुनर्जन्मका कारण है। वासनाको समूल उखाड़ फेंकना ही उत्कृष्ट मोक्ष है। इसी वासनाके द्वारा संसार-बन्धन होता है। प्रतिदिन विधिपूर्वक परात्पर परमात्माके स्मरण-मनन और उपासनादिके द्वारा चित्तकी मलिनता दूर होनेपर ही वासनाका नाश होता है। वासनाके क्षय होनेपर वासनाओंका आश्रयभूत मन भी नष्ट हो जाता है।

'तमसः परस्तात्' और कुछ भी नहीं है, इस वासनाके परे जाना ही है। अतएव जैसे हो, वैसे ही वासनाके बन्धनसे अपनेको मुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। वासनाके क्षय होनेपर जो अन्धकारके परे है उसी परम ज्योतिःस्वरूपका साक्षात् होता है। किन्तु वासना एकबारगी तो जाती नहीं, अतः पहले वासनाको शुद्ध करनेका प्रयत्न करना ही प्रधान कर्त्तव्य है। इस प्रकारके प्रयत्नके फलस्वरूप हमें 'इच्छा-शक्ति' के विकासकी प्राप्ति होगी और तभी हम अशुभ वासनासे छूट सकेंगे।

इस जन्ममें शरीर और मनके द्वारा हम जो कर्म करते हैं, दूसरे जन्मकी शुभ और अशुभ गति उन्हींके ऊपर निर्भर करती है। पुनर्जन्ममें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिको असत्कर्म और असत्-

चिन्तनसे अलग रहना चाहिये, क्योंकि असत्कर्म और असत्-चिन्तनके द्वारा मनको मलिन कर डालनेसे ऊर्ध्वगतिकी प्राप्ति नहीं होती एवं दूसरे जन्ममें नीच-योनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

हे कौन्तेय! मूढ़जन जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनिको प्राप्त होकर मुझे न पाकर और भी अधम गतिको प्राप्त होते हैं। भगवान् यह बात किसको लक्ष्य कर कहते हैं?—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
(गीता १६। ११-१२)

जो मरणकालपर्यन्त अपरिमित चिन्ताओंसे घिरे कामोपभोग-परायण होकर 'यह कामोपभोग ही परम पुरुषार्थ है'—ऐसा निश्चय रखते हुए और सैकड़ों आशाओंके फाँसीसे बँधे हुए काम-क्रोध-परायण होकर कामोपभोगके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसञ्चयकी अभिलाषा करते हैं।

पृथिवीपर रहते हुए वासनाके जालसे छुटकारा पाना एक प्रकार असम्भव ही कहा जा सकता है; परन्तु इस वासनाके द्वारा ही बद्ध होकर हम वारम्वार क्लेश और दुःख भोगते हैं। इसलिये

वासना-शुद्धिकी अत्यन्त ही आवश्यकता है। इस वासनाका जाल कैसे काटा जा सकता है, चित्त-शुद्धि किस प्रकार होती है— इस विषयमें गीता हमें उपदेश देती है। पहले कहा जा चुका है कि वासनाके अनुरूप ही हमारा जन्म होता है। हम सदासे जो कामना करते रहते हैं, मृत्युकालमें भी हम उस कामनाके हाथसे छुटकारा नहीं पाते। और मृत्युकालमें जिसकी जो भावना रहती है, दूसरे जन्ममें उसे वैसी ही अवस्था प्राप्त होती है।

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

लोग जिन-जिन भावोंका स्मरण करते हुए देह-त्याग करते हैं, हे कौन्तेय! सर्वदा उन्हीं-उन्हीं भावोंमें चित्त लगे रहनेके कारण वे वैसे ही भावोंको प्राप्त होते हैं।

अतः भाव-संशुद्धि हुए बिना हमारा निस्तार नहीं है। वासनाके वशीभूत होकर हम केवल अधमसे भी अधमतर योनियोंको प्राप्त होते रहेंगे, और जो हमारे परम सुहृद् और परमाश्रय हैं उनके चरणकमल-स्पर्श करनेके सौभाग्यसे वञ्चित रह जायँगे। बार-बार इस मृत्यु-शोक-दुःखके भारसे दबे हुए जगत्में जन्म ग्रहणकर सैकड़ों ज्वालाओंमें जलकर मर जायँगे। इसीलिये करुणामय भगवान् दया करके कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

अतएव सर्वदा मुझे स्मरण करो और युद्ध करो; मुझमें अपने मन और बुद्धिको अर्पण करनेसे तुम निःसन्देह मुझको प्राप्त करोगे ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(गीता ८ । १५)

महात्मा लोग मुझको प्राप्तकर फिर दुःखके निवासस्थान अनित्य पुनर्जन्मको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे परमसिद्धि अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाते हैं ।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ७)

हे पार्थ ! मैं अपनेमें आवेशितचित्त भक्तोंका मृत्युरूप संसारसागरसे उद्धार करनेमें विलम्ब नहीं करता ।

भगवान्‌में जिनका चित्त अर्पित हो गया है उनका तो वे उद्धार करते हैं, यह सत्य है, किन्तु जो वासनाके दास हैं, भगवद्विमुख हैं, उनकी क्या गति होगी ? उनके लिये भी उपाय हैं । पहले-पहल इच्छा न रहनेपर भी पुण्य-कर्म करने चाहिये और धीरे-धीरे शुभ-वासना और शुभकर्मोंके द्वारा अशुभ-वासना और अशुभ-कर्मोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिये । वासनाको एकबारगी छोड़ा नहीं जा सकता; अतः जिसमें वासना निर्मल हो ऐसी चेष्टा हमें करनी चाहिये । सभी मनुष्योंके हृदयमें प्रेमका बीज कुछ-न-कुछ तो रहता ही है । इसी प्रेमकी सीमाको बढ़ा लेना चाहिये । जो केवल धन और इन्द्रिय-सुखोंसे ही प्रेम करते हैं उनका प्रेम एक छोटी-सी सीमामें

ही आवद्ध हो जाता है । जल जिस प्रकार रुकनेपर क्रमशः विषैला हो जाता है, क्षुद्र सीमामें बँधे हुए प्रेमका वह निर्मल भाव भी उसी प्रकार दूषित हो जाता है। अतः प्रेमकी सीमाको क्रमशः बढ़ाना चाहिये, पर अपने सुखके लिये नहीं, अपनी तृप्तिके लिये नहीं। दूसरोंकी तृप्तिके लिये अपने सुखकी, अपनी तृप्तिकी कामनाको विसर्जित कर देना चाहिये। केवल कर्त्तव्य समझकर कर्त्तव्य-कर्म करनेसे वह बड़ा ही कठोर और नीरस हो जाता है। यह हमारे प्रियतम आत्माको वाञ्छित है इसलिये सबके कल्याण-की ओर दृष्टि रखकर परम प्रीतिके साथ हमें शुभ-कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये । सबका कल्याण-चिन्तन और सुख-साधन ही यथार्थ भगवत्-उपासना है, एवं इसीके द्वारा ही हम कर्मबन्धन और अशुभ-वासनाके चंगुलसे छुटकारा पा सकते हैं। यदि हम एक वार थोड़ी चेष्टा करें तो स्वयं भगवान् हमारे सहायक होंगे और वे हमारा हाथ पकड़कर ले जायँगे । यदि हम एक पैर अग्रसर होंगे तो भगवान् हमारी ओर दस पग बढ़ आवेंगे। हम कभी उनकी करुणासे वञ्चित नहीं होंगे, वे कभी हमें परित्याग न करेंगे। उनकी अभय वाणी दिग्दिगन्तमें ध्वनित हो रही है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

यदि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी अनन्य भजनशील हो-कर मेरी भक्ति करता है तो उसे भी साधु मानना चाहिये क्योंकि उसने उत्तम अध्यवसाय किया है।

अब क्या उस अध्यवसायको भी हम नहीं कर सकते ? वह उत्तम अध्यवसाय क्या है ? वह है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(गीता १० । ९)

जो मच्चित्त और मद्गतप्राण हैं (जिनका चित्त और प्राण मुझमें लगा हुआ है) वे परस्पर मेरा महत्त्व समझाते हुए मेरा कीर्तन करते हुए सन्तोष और आनन्दको प्राप्त होते हैं।

जो संसार-विषसे जर्जरित होकर भगवान्‌के अभय चरणोंकी शरण ग्रहण करते हैं, वे उन्हें न जानते हुए भी, उनकी प्राप्तिके मार्गकी ठीक-ठीक जानकारी न रखनेपर भी केवल प्रीतिसहित उनका स्मरण करते हैं, एवं श्रद्धायुक्त अन्तःकरणसे उनका गुण-कीर्तन-कर सुखी होते हैं, उनके गुण-गानमें मग्न हो जाते हैं एवं उनके पानेके लिये व्याकुल आशा और आग्रह हृदयमें धारणकर प्रतिदिन विनम्र चित्तसे उनके दर्शनकी बाट देखते रहते हैं—कि कब उनकी करुणवाणी सुनायी देगी ? भगवान् इस प्रकारके भक्तोंके लिये क्या करते हैं ? वे कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । १०)

जो सदा मुझमें चित्त अर्पित किये हुए हैं तथा प्रीतिपूर्वक मेरा ही भजन करते हैं उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

जब हमारे हृदयमें भगवद्भक्तिका सञ्चार होगा, तब चित्तके विशुद्ध और निर्मल होनेपर हम जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधिरूप महान् यन्त्रणासे सदाके लिये मुक्त हो सकेंगे और तब हम देखेंगे कि एक अपूर्व आनन्दमय पवित्र भाव हमारे चित्तको परिवेष्टित किये हुए है। इसी अवस्थाके विषयमें गीता कहती है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१६। १-३)

हे भारत! भयशून्यता, चित्तकी प्रसन्नता, आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें निष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, आत्मध्यान, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, सर्वभूतोंके प्रति दया, लोभहीनता, निरहङ्कारता, कुकर्म करनेमें लज्जा, चापल्य-शून्यता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, अति पूज्यत्वके अभिमान-का अभाव, ये छब्बीस गुण दैवीसम्पत्तिमें उत्पन्न पुरुषमें होते हैं।

इस दैवीसम्पद्की प्राप्तिके पूर्व साधनाके द्वारा निम्नलिखित बीस प्रकारके ज्ञानको प्राप्त कर लेना होगा; तब दैवीसम्पत्तिका अपने आप ही विकास हो जायगा। और पूर्व-जन्मोंके संस्कारोंके बन्धनसे छूटनेमें देर नहीं होगी।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
(गीता १३ । ७-११)

मानका न होना, दम्भहीनता, परपीड़ाका त्याग, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, प्राणोंकी स्थिरता, मनका संयम, विषयोंसे वैराग्य, अहङ्कार-हीनता, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमें दुःख एवं दोषोंको स्पष्ट देखना; पुत्र-दारा-गृहादिमें अनासक्ति और ममत्वहीनता (उनके सुख या दुःखसे अपनेको सुखी या दुःखी न समझना), इष्ट वा अनिष्टकी प्राप्तिमें चित्तकी एकरूपता; मुझमें (भगवान्‌में) अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जन स्थानमें रहना एवं मनुष्य-समाजमें वैराग्य; आत्मज्ञानपरायणता एवं तत्त्वज्ञानके लक्ष्यको देखते रहना, इन सबको ज्ञान कहते हैं और जो इसके विपरीत है वही अज्ञान है ।

बारहवाँ अध्याय

मुमुक्षुकी साधना

हम विषय-भोगोंमें इतने आसक्त हैं कि उनसे सदा दुःख और क्लेशका अनुभव करनेपर भी हमारा विषयप्रेम किसी प्रकार निवृत्त नहीं होता। सुखके लालची होकर हम विषय-सुखको ही परम सुख मान लेते हैं। किन्तु उससे हम यथार्थ सुखका मुँहतक नहीं देख पाते। भारतीय योगीन्द्र, मुनीन्द्र प्रभृति महापुरुषोंने यह अनुभव किया था कि विषयानुरागसे छूटना ही परम सुखकी सामग्री है। हम सदा सुखके लिये ही प्रयास करते हैं परन्तु यह सुख किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है इसे न जानकर अनर्थकारी वस्तुओंमें ही सुखका अन्वेषण करनेके लिये दौड़ते हैं—परिणाम यह होता है कि हम और भी दुःखसागरमें डूब जाते हैं। प्यासा पथिक जिस प्रकार शीतल जलके लिये व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार अविश्रान्त दुःख-दावाग्निसे दग्ध होकर जीव सांसारिक भोग-सुखसे विमुख होकर *'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्'* कहकर रो उठता है। यह व्याकुलता ही उसे भक्ति-मुक्तिके शुभ-शीतल जाह्नवीपेनधाराके सुन्दर बालुका-तटके समीप पहुँचाती है। क्रमशः सज्जनोंकी सङ्गतिसे किञ्चित् ज्ञान और वैराग्यका उदय होनेसे संसारके सम्पूर्ण सुख त्याग करने योग्य जान पड़ते हैं; तब संसार-सुखसे अतीत एक अनिर्वचनीय परमानन्दके लिये मन और

प्राण बाँध तोड़कर निकल भागना चाहते हैं; इसी समय साधु-महात्माओंकी कृपा होती है। उनकी कृपासे ही हम यथार्थ भावसे मुमुक्षु-अवस्थाको प्राप्त करते हैं। मुमुक्षुत्वके लिये जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है वे नीचे लिखी जाती हैं—

'विचार, वैराग्य, धैर्य और सन्तोष इन चारोंका आदरपूर्वक सेवन मुमुक्षु, भक्तिकी इच्छा रखनेवाले और शुभकामी प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये। हमारे लिये भगवान्‌ने जो कुछ विधान किया है, उसीमें हम सन्तुष्ट रहें, कभी उससे असन्तोष प्रकाशित न करें। दुःख-क्लेश जो कुछ भी सामने आवें हम उनसे कभी घबरायें नहीं। वैराग्य हमारे चित्तको इष्टानिष्टजनित सुख-दुःखसे उदासीन बनाये रक्खे। हम सर्वदा ही आत्म-विचार करें। 'इन्द्रिय-सुखमें क्यों प्रवृत्ति होती है? विषय-भोगमें लालसा क्यों उत्पन्न होती है? ये इन्द्रियोंके विषय क्या हैं? इनमें वस्तुतः कोई लोभनीय पदार्थ है या नहीं? हमारे अन्दर विषय-भोग कौन करता है? इन सब सुख-दुःखोंका कारण क्या है?' इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करनेसे हम क्रमशः अध्यात्ममार्गपर आरूढ़ हो जाते हैं। जो इस प्रकार विचारपरायण रहते हैं उन्हें सुख-दुःख विचलित नहीं करते। इसके बाद धैर्य होता है। वैराग्यके प्रभावसे हेय पदार्थोंमें अनास्था हो जानेपर सुख-दुःखादिसे हमारा धीरज नहीं टूट सकता। जो कुछ होता है वह परमात्माकी इच्छासे होता है और वह ठीक ही होता है—ऐसा समझ लेनेपर असन्तोषकी आग हमें कभी जला नहीं सकती।

नैतिक चरित्र-बल

जिनमें चरित्र-बल नहीं होता वे ही संसारमें सबसे अधिक क्लेश पाते हैं। चरित्र-बल नहीं रहनेसे हम किसी भी महान् कर्मको करनेमें समर्थ नहीं होंगे। झूठ बोलना, लोगोंको ठगना एवं कर्त्तव्य-कर्ममें अनिच्छा होना—ये सब दुर्बल-चित्तके लक्षण हैं। नैतिक बल ही चरित्र-बल है। जिसके पास यह बल नहीं है वह पशुसे भी हीनतर कार्य करनेमें सङ्कोच नहीं करता। जगत्में शान्ति और कल्याणकी स्थापनामें इनके-जैसा शत्रु और कोई नहीं है। सत्य, त्याग और सेवा इन तीनोंके द्वारा ही मनुष्यके चरित्र-बलकी वृद्धि होती है। इसीके लिये यम-नियमादिकी साधना की जाती है। अन्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी यम-नियमसे हीन उच्छृङ्खल मनुष्य संसारमें प्रतिष्ठा या धर्मको प्राप्त नहीं कर सकता। यम-नियमशील चरित्रवान् पुरुष यदि निरहङ्कार हो सके तो वह इनके सारे फलोंको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है।

शुभ कर्म करके अहङ्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि जो कुछ हम करते हैं, उससे हमारा ही तो मङ्गल होता है, इसके अतिरिक्त तो कुछ नहीं करते। दूसरोंकी त्रुटि और दोषको क्षमा करना चाहिये। दरिद्र, अस्वस्थ और पीड़ित मनुष्यको आश्रय देना चाहिये। कोई कितना ही दरिद्र हो, पापी हो, किसीसे घृणा नहीं करनी चाहिये। पापीसे घृणा न करके उसे अन्धेके समान् मार्ग भूला हुआ जानकर उसके प्रति दयादृष्टि करनी चाहिये एवं मित्रभावसे उसे धर्मका सुन्दर पथ दिखा देना चाहिये।

हमारे हृदय-देवता सबके अन्दर समभावसे विराजमान हैं—इस बातको भूल जानेपर हम न किसीसे प्रेम कर सकते हैं और न हमसे सेवा ही हो सकती है। लाभ-हानिका विचार करनेसे ही स्वार्थपरता आ जाती है। स्वार्थपरताके रहते प्रेम कभी पुष्ट नहीं हो सकता। जो कुछ आमदनी हो, उसका कुछ अंश परोपकारमें व्यय करना चाहिये। भगवान् जिस प्रकार सबके आश्रय हैं, भगवद्भक्त और ज्ञानीको भी उसी प्रकार सबका आश्रयस्थानीय होना चाहिये।

जिसमें सब मनुष्य सत्-मार्गपर चलें, शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करें, इसके लिये हमें विशेष लक्ष्य रखना उचित है। हमें यह जानना चाहिये कि हमारे चारों ओरके सब लोग जबतक उन्नत न हों तबतक हमारी व्यक्तिगत उन्नतिका कोई विशेष मूल्य नहीं है। हमारे चारों ओरके जनसमूहकी उन्नतिमें ही हमारी यथार्थ उन्नति है। सबको छोड़कर अकेले हम कुछ भी नहीं हैं। वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्के वर्तमान एवं अतीत युग-युगान्तरके कर्मफलोंसे क्या हम सब बँधे हुए नहीं हैं? एक मनुष्यकी दुष्कृतिका फल क्या हम सब लोग मिलकर नहीं भोगते हैं? क्योंकि, किसीको भी छोड़कर हम अकेले पूर्ण नहीं हैं। इसीलिये इस विशाल जनसमूहके समस्त पाप-पुण्योंने हमको बाँध रखा है। हमारी उन्नति सबकी उन्नतिके साथ ही होगी। अतः जो जितना भी सत्कर्म करेंगे या पुण्य-कर्ममें सहायता करेंगे, वे उसे विश्व-मानवके लिये ही करेंगे, केवल अपने ही लिये नहीं। क्योंकि 'महात्मा' ही 'सर्व

भूतात्मा' है। शरीरके किसी अंशमें जब कभी कोई फोड़ा या किसी प्रकारके सुख-स्पर्शका अनुभव होता है, उस समय जिस प्रकार सर्वाङ्गको ही दुःख-सुखका भोग होता है उसी प्रकार प्रत्येक जीवके पाप-पुण्य, सुख-दुःख हम सबको मिलकर ही भोग करने पड़ते हैं; अतः आलस्यहीन होकर केवल अपनी जाति और अपने लोगों-के लिये ही नहीं, विश्वके समस्त मानव-जाति और जीवमात्रके लिये ही मङ्गल-कामना करनी होगी। पर-निन्दा और पर-चर्चा करनेकी अभिलाषा दुर्बल और मलिन-चित्तकी पहिचान है। परन्तु पर-निन्दा और पर-चर्चामें ही हमारा विशेष उत्साह दिखायी पड़ता है। जो समय हम पर-चर्चामें बिताते हैं, वह यदि सत्-आलोचनामें बितावें तो उससे उन्नतिके मार्गमें हम विशेषरूपसे अग्रसर हो सकते हैं।

आलस्य, दीर्घसूत्रता और विशृङ्खलता आत्मोन्नतिमें विघ्न हैं। इन सबको प्राणपणसे छोड़ना होगा। जिनको इतर श्रेणीके कह-कर हम घृणा करते हैं, उनमें जिससे सत्-शिक्षा और ज्ञानका उदय हो उसके लिये हमें अत्यन्त यत्न करना आवश्यक है। किसी-को कोई अन्याय करते देखकर उसे सावधान कर देना उचित है। जो जीवके मङ्गलके लिये कर्म करते हैं, उनमें यदि कोई आकस्मिक त्रुटि आ जाय तो उसका ढिंढोरा पीटना उचित नहीं। सबका यथायोग्य सम्मान करते हुए शिक्षा देना उचित है। सत्पुरुषोंका सम्मान करना सीखे बिना किसी जातिकी उन्नति असम्भव है, किन्तु किसीकी खुशामद भी नहीं करनी चाहिये। 'बहुत बोलना

भी अच्छा नहीं, बहुत बोलनेसे ही अनावश्यक बातें निकल जाती हैं। लोगोंके साथ बातचीत करते समय या व्यवहारमें भद्रताकी सीमाका उल्लङ्घन करना उचित नहीं। शुभकामी पुरुषके लिये किसी गन्दे विषयकी आलोचना करना अत्यन्त निन्दनीय है। चार भले आदमियोंमें हम जो शब्द उच्चारण नहीं कर सकते, उसकी मनमें भी आलोचना करना ठीक नहीं है।

किसीकी सहायता करनेके लिये कमर कसकर बजारमें बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। जब किसीकी सहायता करनी आवश्यक हो तब विचारपूर्वक भयरहित हो प्राणपनसे उसकी सहायता करनी चाहिये। तब अपने लिये विचारने और चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अपनी ओर देखोगे तो कभी किसीकी सहायता नहीं कर सकोगे। भगवान् हमसे माँग रहे हैं, ऐसा विचारकर सहायता करनी चाहिये। इस प्रकारका निःस्वार्थ परोपकार ही भगवान्‌की यथार्थ पूजा है। भगवान्‌की किसी प्रतिमूर्तिके सामने जब हम किसी वस्तुको निवेदन करते हैं, तब वह उसे ग्रहण करते हैं या नहीं—इसे हम समझ नहीं सकते। अवश्य ही समस्त वस्तुएँ ही जब उसीकी हैं तो भी उसे निवेदन करके ही हमें उनका ग्रहण करना उचित है; परन्तु उसे नाममात्रको दिखाकर, लोभयुक्त चित्तसे जब हम सारी-की-सारी चीजें ले लेते हैं तब उसे प्रसाद समझनेमें शायद भूल होती है। क्योंकि इस अवसरपर हम त्याग कुछ भी नहीं करते। हम देवताको जो समर्पण करते हैं वह दुर्भाग्यवश हो या सौभाग्यवश, सारा-का-सारा ही वापस ले लेते हैं, परन्तु जहाँ वह सचमुच ही

ग्रहण करनेके लिये हमारी ओर हाथ बढ़ाये हुए हैं, जहाँ दान करते समय सचमुच हमें कुछ त्याग करना पड़ता है वहाँ यदि हम दान कर सकें, विनीत अन्तःकरणसे हम अपने भक्ति-अर्घ्य-को निवेदन कर सकें, तभी हमारा पूजा करना सार्थक होता है। जहाँ दुर्भिक्ष है वहाँ भगवान् अन्न चाहते हैं; जहाँ रोगपीड़ित है वहाँ प्रभु सेवा-शुश्रूषा चाहते हैं, जहाँ गृहहीन हतभाग्य इधर-उधर रोते-फिरते हैं वहाँ वे आश्रय-भिक्षा करते हैं; एवं जहाँ वस्त्रहीन दरिद्र लज्जानिवारण करनेमें असमर्थ है, वहाँ प्रभु वस्त्रके लिये हाथ फैलाते हैं। यदि हम इस सर्वभूतस्थित भगवान्की पूजा नहीं कर सकते तो अन्य पूजाएँ वृथा आडम्बरमात्र हैं।

तथापि भगवान्को कोई किसी भी भावसे पूजे, उससे द्वेष नहीं करना चाहिये।

मानसिक उन्नति

मन यथार्थ ही दर्पणके समान है, इसीमें आत्माका प्रति-बिम्ब झलकता है। मनके द्वारा हम जो कुछ करते हैं वह सभी आत्माका ही कार्य माना जा सकता है। मनमें ही भाँति-भाँतिकी चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। चिन्ता-शक्तिका प्रभाव अत्यन्त आश्चर्यजनक और अचिन्तनीय है। हमारी सुचिन्ता या कुचिन्ता, तनिक भी नष्ट नहीं होती, सब इसी आकाशमें विद्यमान रहती है। सुचिन्ता दूसरी सुचिन्ताओंको तथा कुचिन्ता दूसरी कुचिन्ताओंको आकर्षित करती हैं। हम कुचिन्ताका पोषण करके उसके विषाक्त बीजाणुओंको इस विश्वमें फैला देते हैं। और वे

बीजाणु संक्रामक रोगकी भाँति दूसरे मनुष्योंके मनमें प्रवेश करते हैं। अतः जब इसमें इतना बड़ा दायित्व है तब कुचिन्ताका पोषण करना कितना बड़ा पाप है, इस बातपर बारम्बार विचार करके चिन्ताको संयत करना कर्तव्य है। यदि हम एक दिन भी अपने या दूसरेके चरित्र-संशोधनका विचार करते हैं अथवा किसीका हित-चिन्तन करते हैं या अन्य किसी शुभ कर्मकी कल्पना करते हैं तो वह भी नष्ट होनेकी नहीं है। इसलिये दिन-भरमें क्षणकालके लिये भी हमें किसी-न-किसी सच्चिन्तनमें मनको लगाये रखना उचित है।

बाहर संसारमें लोग अनेक बातें करते हैं, अनेक कार्य करते हैं, उनसे मनको विचलित नहीं होने देना चाहिये। समयका स्रोत तुम्हारे चित्तको बहा न ले जाय। जब जो कार्य करो, मनको खूब दृढ़तापूर्वक उसमें लगाये रक्खो। मनमें इधर-उधरके विचार इच्छानुसार आ-जा न सकें। दुश्चिन्ताओंको बार-बार मनसे हटानेके लिये बड़े धैर्यकी आवश्यकता है, परन्तु उस धैर्यद्वारा मनसे कुचिन्ताओंके एकबारगी भगाये बिना अध्यात्मज्ञानका विकसित होना भी सम्भव नहीं। व्यर्थ विचार मनमें उठते ही उसे पकड़ लो और उसी क्षण उसे मनसे दूर करनेकी चेष्टा करो। अच्छी-अच्छी पुस्तकें और अच्छे-अच्छे निबन्ध प्रतिदिन पढ़ो, एवं उनमें आये हुए विषयोंपर चिन्तन और विचार करो। इससे मनकी दृढ़ता बढ़ेगी एवं समय-समयपर यथार्थ सत्यका ज्ञान होगा। आश्वासनवाणी सुननेको मिलेगी। उपनिषद्, मनुस्मृति, महाभारत, रामायण, भागवत विशेषतः भगवद्गीताका प्रतिदिन श्रद्धाके साथ पाठ करनेसे उनके

निगूढ़ अर्थ स्वतः ही तुम्हारे सामने प्रकट हो जायँगे। त्याग और प्रेमके द्वारा ही यथार्थ मानसिक उन्नति होती है, इसको विशेष-रूपसे जान रखना चाहिये।

आध्यात्मिक उन्नति

तुम्हारा आत्मा स्वभावसे ही पवित्र, निर्मल और शान्तिपूर्ण है, इस बातको बार-बार मनमें धारणा करते हुए आत्माका ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। विषयके संसर्गसे आत्मा कलुषित-सा जान पड़ता है किन्तु वह स्वयं शुद्ध और अपापविद्ध है। वासनाके द्वारा विक्षुब्ध मन अत्यन्त अधीर और अस्थिर होकर सुख-दुःखादि अवस्थाको प्रकट करता है, और इसी कारण आत्मा भी सुख-दुःखधर्मी जान पड़ता है। मनकी यह अस्थिरता जबतक रहती है, तबतक आत्माका निष्कलङ्क स्वरूप प्रकट नहीं होता। *'ज्ञानशक्तेर्मलं विद्यात् अस्थैर्यं तेन चाज्ञता'* अस्थिरता ही ज्ञान-शक्तिका मल है अर्थात् हमारी जो अज्ञता है अथवा हम जो तत्त्वको जान नहीं पाते, इसका कारण अस्थिरता या मनकी चञ्चलता ही है। इसलिये प्रतिदिन थोड़े समयके लिये भी मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। वायुरहित स्थानमें जैसे दीपक स्थिर रहता है वैसे ही मनको बाह्य विषयोंसे लौटाकर आत्मामें निश्चल करना चाहिये। चित्तकी इसी प्रकारकी एकाग्र अचञ्चल अवस्थामें आत्माकी सुनिर्मल ज्योति प्रदीप्त हो उठती है।

जिस प्रकार दिनमें अनेकों कर्म करके हम रात्रिमें विश्राम करते हैं, वैसे ही विषय-चिन्तामें सर्वदा लगे हुए मनको एक बार चिन्ताशून्य कर विराम-सागरमें डुबो देना होगा। प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा प्रयत्न करनेसे इस प्रकारकी स्थिर अवस्थाका प्राप्त करना

कठिन नहीं है। चित्त स्थिर होनेपर ही भगवत्प्रसादकी प्राप्ति होती है एवं भगवत्प्रसादमें ही समस्त दुःखोंका विराम होता है। '*प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते*' प्रसादकी प्राप्तिके लिये चित्तको भगवद्भावमय कर डालना होगा, एवं इसीके लिये प्रतिदिन भगवदालोचना, निर्जनमें ध्यान, परमार्थ-विचार, नाम-संकीर्तन और जपादिके अभ्यासकी आवश्यकता है। किन्तु इसमें चित्तको पूर्णरूपसे लगाना पड़ेगा। केवल बेगार काटनेसे ही कुछ विशेष फल प्राप्त नहीं हो सकता। पता नहीं, कब हमारे कर्म क्षय हों? कब हमारा चित्त प्रेमयुक्त होकर प्रभुका स्मरण करेगा और कब हम प्रभुके सुशीतल पदच्छायामें चिर-विश्राम प्राप्त कर सकेंगे? किन्तु उनके आनन्दघन ज्योतिर्मय स्वरूपके प्रत्यक्ष किये बिना हमारे कर्मोंका नाश नहीं होगा, हृदयग्रन्थि भी नहीं टूटेगी। करुणामय भगवान् हमपर कृपा करनेके लिये तैयार हैं। क्या हमलोग एक बार आँखें खोलकर नहीं देखेंगे? कब हम अपने समस्त कर्मोंके बोझको उनके चरण-कमलोंमें निवेदनकर निश्चिन्त चित्तसे उस प्रेममयका गुणगान करके अपने जन्म-जीवनको सफल करेंगे? सुनो, भगवान् कह रहे हैं—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
> सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
> मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
> भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
> सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

परिशिष्ट

(क) आर्य-शिक्षा और सदाचार

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । सत्यान्न प्रमादितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

सत्य बोल । धर्मका आचरण कर । स्वाध्यायमें प्रमाद न कर । सत्यमें प्रमाद न कर । धर्ममें प्रमाद न कर । कल्याणकारी कर्मोंमें प्रमाद न कर । ऐश्वर्य-वर्द्धनमें प्रमाद न कर । देवता और पितरोंके लिये किये जानेवाले कर्मोंमें प्रमाद न कर । स्वाध्याय और प्रवचन करनेमें प्रमाद न कर ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानि न इतराणि ।

माताको ही देवता माननेवाला हो । पिताको ही देवता माननेवाला हो । आचार्यको ही देवता माननेवाला हो । अतिथिको ही देवता माननेवाला हो । जो हमारे शुभ चरित हैं, तुझे उन्हींका सेवन करना चाहिये, औरोंका नहीं ।

श्रद्धया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।

श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । संकोचपूर्वक देना चाहिये । शास्त्रभयसे देना चाहिये । विचारपूर्वक देना चाहिये ।

यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्याद् ये तत्र

ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः यथा वर्त्तेरन् तथा वर्त्तेथाः ।

यदि तुझे कर्म (श्रौत-स्मार्त्तादि) कर्मोंके विषयमें अथवा अपनी वृत्ति (लोक-व्यवहार) के विषयमें कोई सन्देह हो तो जो ब्राह्मण विचारशील, समाहित, अनुष्ठानशील, क्रोधरहित और धर्मकी कामनावाले हैं, वे जिस प्रकार वर्तते हों उसी प्रकार तुझे भी करना चाहिये।

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम् । तद्ध्यनुष्ठानं युगपत् संपादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयञ्चेति । देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत् । नित्यमनुपहतवासः साधुवेषः वश्यात्मा धर्मात्मा निश्चिन्तो निर्भीको धीमान् ह्रीमान् महोत्साहो दक्षः क्षमावान् धार्मिक आस्तिको विनयबुद्धिर्विद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता । मङ्गलाचारशीलः सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात् ।

इसलिये अपना हित करनेकी इच्छावाले सब लोगोंको विचारपूर्वक सदा सत्कर्म ही करने चाहिये । ऐसा अनुष्ठान करनेसे पुरुष आरोग्य और इन्द्रियजय—इन दोनों अर्थोंको सिद्ध कर लेता है । (इसलिये) देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्योंकी पूजा करे; सदा वस्त्रयुक्त और साधुवेषसे रहे तथा संयतचित्त धर्मात्मा, निश्चिन्त, निर्भय, बुद्धिमान्, लज्जावान्, महान् उत्साही, कुशल, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक, विनीतबुद्धि-विद्या, पूर्वजनोंके निवासस्थान, वयोवृद्ध सिद्ध और आचार्यका उपासक, मङ्गलमय आचरण करनेवाला तथा सब प्राणियोंका बन्धुरूप हो ।

(ख) योगचर्या

योगाभ्यास करनेवालोंको आहार-विहारके सम्बन्धमें विशेष नियमोंका पालन करना आवश्यक है। बहुत-से लोग योगाभ्यास करते हैं परन्तु उसका कोई अच्छा फल नहीं होता, इसका कारण यही है कि योगाभ्यासके प्राथमिक नियमोंके पालनमें बहुधा उपेक्षा की जाती है। इसीलिये यहाँ योगचर्याके कुछ नियम लिखे जाते हैं—

१—अधिक राततक जागना उचित नहीं।

२—अनावश्यक कार्यमें और अनावश्यक चिन्तनमें अधिक समयतक लगे रहना नहीं चाहिये।

३—ब्रह्मचर्यव्रतका पालन अर्थात् शुक्र-धारणके लिये विशेष सचेष्ट रहना चाहिये।

४—आहार, वस्त्र, साधन-भजन और रहनेके स्थानको खूब शुद्ध और साफ रखना चाहिये।

५—भोजन ऐसे हिसाबसे करना चाहिये, जिससे पेटमें वायु एकत्र न हो सके। भूखके समय पेटका तीन भाग अन्न-जलसे भरकर चौथा भाग वायुके सञ्चालनके लिये खाली रखना चाहिये। रातका भोजन बहुत कम होना आवश्यक है। पेटको गरम करे ऐसे साग-तरकारी और मसाले नहीं खाने चाहिये। लाल मिर्च, गरम मसाले और गुरुपाक (भारी) चीजोंको बिल्कुल

ही नहीं खाना उचित है । दही खाना अच्छा नहीं । बीच-बीचमें छाछ खायी जा सकती है । कच्चे मूँगकी दाल, पपीता, तरोई, करेला, भिंडी आदि चीजोंको सिजाकर मामूली मसाला डालकर खाना अच्छा है। आलू, गोभी कम खाना ही उत्तम है। मत्स्य, मांस बिल्कुल नहीं खाना चाहिये ।

६—कोठा साफ रखना आवश्यक है, जिनको क़ब्ज़ रहता हो, उन्हें महीनेके शेषमें एक बार हरेंका जुलाब ले लेना चाहिये ।

७—माथा ठण्ढा रहे और शरीरमें कफ न पैदा हो, इस ओर विशेष ध्यान रखना उचित है ।

८—अधिक नींद और आलस्यको न आने दें ।

९—रात्रिके शेष पहरमें जाग जाय ।

१०—पूरे मनसे सर्व प्रकारके नियमोंका पालन करनेकी चेष्टा करे ।

(ग) स्तोत्रावली

प्रातःस्मरणीयस्तोत्रम्

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥ १ ॥

लोकेश चैतन्यमयाधिदेव!
श्रीकान्त! विष्णो! भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥ २ ॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश! हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ ३ ॥

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥ ४ ॥

प्रभाते यः स्मरेन्नित्यं दुर्गां दुर्गाक्षरद्वयम्।
आपदस्तस्य नश्यन्ति तमः सूर्योदये यथा ॥ ५ ॥

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥ ६ ॥

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥ ७ ॥
मन्त्रः सत्यं पूजा सत्यं सत्यं देवो निरञ्जनः ।
गुरोः वाक्यं सदा सत्यं सत्यमेव परं पदम् ॥ ८ ॥
प्रातःप्रभृतिसायान्तं सायाह्नात्प्रातरन्ततः ।
यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम् ॥ ९ ॥

गुरुध्यानम्

ध्यायेच्छिरसि शुक्लाब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् ।
श्वेताम्बरपरीधानं श्वेतमालानुलेपनम् ॥ १ ॥
वराभयकरं शान्तं करुणामयविग्रहम् ।
वामेनोत्पलधारिण्या शक्त्याऽऽलिङ्गितविग्रहम् ॥ २ ॥
स्मेराननं सुप्रसन्नं साधकाभीष्टदायकम् ॥
हृदम्बुजे कर्णिकामध्यसंस्थं
सिंहासने संस्थितं दिव्यमूर्त्तिम् ।
ध्यायेद्गुरुं चन्द्रकलावतंसं
सच्चित्सुखाभीष्टवरप्रदानम् ॥ ३ ॥

प्रणाममन्त्रौ

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ १ ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २ ॥

गुरुस्तोत्रम्

संसारवृक्षमारूढाः पतन्ति नरकार्णवे ।
येनोद्धृतमिदं विश्वं तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ १ ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २ ॥
सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदाम्बुजम् ।
वेदान्ताम्बुजसूर्याय तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥
चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम् ।
बिन्दुनादकलातीतं तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ४ ॥
ज्ञानशक्तिसमारूढं तत्त्वमालाविभूषितम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ५ ॥
न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ६ ॥
मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः ।
मदात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ७ ॥
मत्प्राणः श्रीगुरोः प्राणः मद्देहो गुरुमन्दिरम् ।
पूर्णमन्तर्बहिर्येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ८ ॥
गुरुरादिरनादिश्च गुरुः परमदैवतम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ९ ॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥१०॥
वन्देऽहं सच्चिदानन्दं भेदातीतं जगद्गुरुम् ।
नित्यं पूर्णं निराकारं निर्गुणं सर्वसंस्थितम् ॥११॥

परात्परतरं ध्येयं नित्यमानन्दकारकम्।
हृदयाकाशमध्यस्थं शुद्धस्फटिकसंनिभम् ॥१२॥
नित्यं शुद्धं निराभासं निर्विकारं निरञ्जनम्।
नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुब्रह्म नमाम्यहम् ॥१३॥
यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
मनसा कर्मणा वाचा श्रुतेरेवैष निश्चयः ॥१४॥
भावोऽद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह ॥१५॥

जबतक जीवित रहे तबतक वेदान्त, गुरु और ईश्वर इन तीनोंको सदा परम पूजनीय समझे और मन, वचन, कर्मसे इन तीनोंकी वन्दना करता रहे। भावमें सदा अद्वैतको माने परन्तु क्रियामें अद्वैतभाव न रक्खे। तीनों लोकोंमें अद्वैत (परमात्मा) का भाव करे परन्तु गुरुमें अद्वैतभाव नहीं करे।

श्रीशंकराचार्यकृतगुर्वष्टकम्

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ १ ॥
कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि सर्वं
गृहं बान्धवाः सर्वमेतद्धि जातम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ २ ॥

षडङ्गादिवेदा मुखे शास्त्रविद्या
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
गुरोरङ्घ्रियुग्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ३॥

विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः
सदाचारवृत्तेषु मत्तो न चान्यः।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ४॥

सभामण्डले भूपभूपालवृन्दैः
सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम्।
गुरोरङ्घ्रियुग्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ५॥

यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापात्
जगद्वस्तु सर्वं करे यत्प्रसादात्।
गुरोरङ्घ्रियुग्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ६॥

न भोगे न योगे न वा वाजिराज्ये
न कान्तासुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।
गुरोरङ्घ्रियुग्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ७॥

अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये
न देहे मनो वर्त्तते मेऽत्यनर्घ्यैः।

गुरोरङ्घ्रियुग्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ८ ॥

अनर्घ्याणि रत्नानि मुक्तानि सम्यक्
समालिङ्गिता कामिनी यामिनीषु ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ९ ॥

गुरोरष्टकं यः पठेत्पुण्यदेही
यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही ।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं
गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ॥१०॥

गणेशध्यानम्

ॐ खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम् ।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम् ॥

प्रणामः

देवेन्द्रमौलिमन्दारमकरन्दकणारुणाः ।
विघ्नं हरन्तु हेरम्बचरणाम्बुजरेणवः ॥ १ ॥

गणेशप्रातःस्मरणस्तोत्रम्

प्रातः स्मरामि गणनाथमनाथबन्धुं
सिन्दूरपूरपरिपूरितगण्डयुग्मम् ।
उद्दण्डविघ्नपरिखण्डनचण्डदण्ड-
माखण्डलादिसुरनायकवृन्दवन्द्यम् ॥ १ ॥

प्रातर्नमामि चतुराननवन्द्यमान-
मिच्छानुकूलमखिलं च वरं ददानम् ।
तं तन्दुलं द्विरसनाधिपयज्ञसूत्रं
पुत्रं विलासचतुरं शिवयोः शिवाय ॥ २ ॥

प्रातर्भजाम्यभयदं खलु भक्तशोक-
दावानलं गणविभुं वरकुञ्जरास्यम् ।
अज्ञानकाननविनाशनहव्यवाह-
मुत्साहवर्धनमहं सुतमीश्वरस्य ॥ ३ ॥

सूर्यध्यानम्

ॐ रक्ताम्बुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं
भानुं समस्तजगतामधिपं भजामि ।
पद्मद्वयाभयवरं दधतं कराब्जै-
र्माणिक्यमौलिमरुणाङ्गरुचिं त्रिनेत्रम् ॥ १ ॥

प्रणामः

जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम् ।
ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम् ॥

आदित्यस्तोत्रम्

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥ १ ॥
यस्योदयेनेह जगत्प्रबुध्यते
प्रवर्त्तते चाखिलकर्मसिद्धये ।
ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दितः
स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः ॥ २ ॥
नमोऽस्तु सूर्याय सहस्ररश्मये
सहस्रशाखान्वितसम्भवात्मने ।
सहस्रयोगोद्भवभावभागिने
सहस्रसंख्यायुगधारिणे नमः ॥ ३ ॥

यन्मण्डलं दीप्तिकरं विशालं
रत्नप्रभं तीव्रमनादिरूपम् ।
दारिद्र्यदुःखक्षयकारणञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ४ ॥

यन्मण्डलं देवगणैः सुपूजितं
विप्रैः स्तुतं भावनमुक्तिकोविदम् ।
तं देवदेवं प्रणमामि सूर्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ५ ॥

यन्मण्डलं ज्ञानघनं त्वगम्यं
त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ।
समस्ततेजोमयदिव्यरूपं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ६ ॥

यन्मण्डलं गूढमतिप्रबोधं
धर्मस्य वृद्धिं कुरुते जनानाम् ।
यत्सर्वपापक्षयकारणञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ७ ॥

यन्मण्डलं व्याधिविनाशदक्षं
यदृग्यजुःसामसु सम्प्रगीतम् ।
प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ८ ॥

यन्मण्डलं वेदविदो वदन्ति
गायन्ति यच्चारणसिद्धसङ्घाः ।

यद्योगिनो योगजुषां च सङ्घाः
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥ ९ ॥

यन्मण्डलं सर्वजनेषु पूजितं
ज्योतिश्च कुर्यादिह मर्त्यलोके ।
यत्कालकालादिमनादिरूपं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१०॥

यन्मण्डलं विष्णुचतुर्मुखाख्यं
यदक्षरं पापहरं जनानाम् ।
यत्कालकल्पक्षयकारणञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम ॥११॥

यन्मण्डलं विश्वसृजां प्रसिद्ध-
मुत्पत्तिरक्षाप्रलयप्रगल्भम् ।
यस्मिञ्जगत्संहरतेऽखिलञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१२॥

यन्मण्डलं सर्वगतस्य विष्णो-
रात्मा परं धाम विशुद्धतत्त्वम् ।
सूक्ष्मान्तरैर्योगपथानुगम्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१३॥

यन्मण्डलं वेदविदो वदन्ति
गायन्ति यच्चारणसिद्धसङ्घाः ।
यन्मण्डलं वेदविदः स्मरन्ति
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१४॥

यन्मण्डलं वेदविदोपगीतं
यद्योगिनां योगपथानुगम्यम् ।
तत्सर्ववेदं प्रणमामि सूर्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१५॥

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥१६॥

सशङ्खचक्रं रविमण्डले स्थितं
कुशेशयाक्रान्तमनन्तमच्युतम् ।
भजामि बुद्धया तपनीयमूर्त्तिं
सुरोत्तमं चित्रविभूषणोज्ज्वलम् ॥१७॥

श्रीविष्णुध्यानम्

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥१॥

प्रणामः

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१॥

द्वादशाक्षरस्तोत्रम्

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ओम् इति ज्ञानमात्रेण रागाजीर्णेन निर्जितः।
कालनिद्रां प्रपन्नोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥१॥
न गतिर्विद्यते नाथ त्वमेव शरणं प्रभो।
पापपङ्के निमग्नोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥२॥
मोहितो मोहजालेन पुत्रदारादिभिर्धनैः।
तृष्णया पीड्यमानोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥३॥
भक्तिहीनं च दीनं च दुःखशोकातुरं प्रभो।
अनाश्रयमनाथञ्च त्राहि मां मधुसूदन ॥४॥
गतागतेन श्रान्तोऽस्मि दीर्घसंसारवर्त्मसु।
येन भूयो न गच्छामि त्राहि मां मधुसूदन ॥५॥

बहवो हि मया दृष्टा योनिद्वारः पृथक् पृथक्।
गर्भवासे महद्दुःखं त्राहि मां मधुसूदन ॥६॥
तेन देव प्रपन्नोऽस्मि चिन्तयामि पुनः पुनः।
जगत्संसारमोक्षाय त्राहि मां मधुसूदन ॥७॥
वाचा यच्च प्रतिज्ञातं कर्मणा न कृतं मया।
सोऽहं कर्मदुराचारस्त्राहि मां मधुसूदन ॥८॥
सुकृतं न कृतं किञ्चिद्दुष्कृतं च कृतं मया।
संसारार्णवमग्नोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥९॥
देहान्तरसहस्राणामन्योऽन्यं भ्रमितं मया।
येन भूयो न गच्छामि त्राहि मां मधुसूदन ॥१०॥
वासुदेवं प्रपन्नोऽस्मि प्रणमामि पुनः पुनः।
जरामरणभीतोऽस्मि त्राहि मां मधुसूदन ॥११॥
यत्र यत्रैव जातोऽस्मि स्त्रीषु वा पुरुषेषु च।
तत्र तत्राचला भक्तिस्त्राहि मां मधुसूदन ॥१२॥

इति श्रीशुकदेवरचितं श्रीविष्णोर्द्वादशाक्षरस्तोत्रम्

श्रीकृष्णध्यानम्

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥१॥

श्रीगोपालध्यानम्

पञ्चवर्षमतिदृप्तमङ्गने धावमानमतिचञ्चलेक्षणम्।
किङ्किणीवलयहारनूपुरै रञ्जितं नमत गोपबालकम्॥१॥

प्रणामः

नीलोत्पलदलश्यामं यशोदानन्दनन्दनम्।
गोपिकानयनानन्दं गोपालं प्रणमाम्यहम्॥१॥

श्रीराधिकाध्यानम्

अमलकमलकान्तिं नीलवस्त्रां सुकेशीं
शशधरसमवक्त्रां खञ्जनाक्षीं मनोज्ञाम्।
स्तनयुगगतमुक्तादामदीप्तां किशोरीं
व्रजपतिसुतकान्तां राधिकामाश्रयेऽहम्॥१॥

प्रणामः

नवीनां हेमगौराङ्गीं पूर्णानन्दवतीं सतीम्।
वृषभानुसुतां देवीं वन्दे राधां जगत्प्रसूम्॥१॥

श्रीकृष्णस्तोत्रम्

वन्दे नवघनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
सानन्दं सुन्दरं शुद्धं श्रीकृष्णं प्रकृतेः परम्॥१॥

नवीननीरदश्यामं नीलेन्दीवरलोचनम् ।
वल्लवीनन्दनं वन्दे कृष्णं गोपालरूपिणम् ॥२॥

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥४॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥५॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥६॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥७॥

यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव ।
कृष्ण विष्णो हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥८॥

नमः कृष्णाय देवाय ब्रह्मणेऽनन्तमूर्त्तये ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गतः ॥९॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥१०॥

नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वभावन ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥११॥

कृष्ण कृष्ण कृपालो त्वमगतीनां गतिर्भव ।
संसारार्णवमग्नानां प्रसीद पुरुषोत्तम ॥१२॥

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥१३॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु ॥१४॥

जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽयं
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयति जयति पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥१५॥

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥
नमामि नारायणपादपङ्कजं करोमि नारायणपूजनं सदा।
वदामि नारायणनाम निर्मलं स्मरामि नारायणतत्त्वमव्ययम्॥

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥१८॥

हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यं पीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम् ॥१९॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भुजमुत्थाप्य चोच्यते।
न वेदाच्च परं शास्त्रं न देवः केशवात्परः ॥२०॥
आलोच्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैवं पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥२१॥

शरीरञ्च नवच्छिद्रं व्याधिग्रस्तं निरन्तरम्।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ॥२२॥

यस्य हस्ते गदाचक्रं गरुडो यस्य वाहनम् ।
शङ्खः करतले यस्य स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥२३॥
अप्रमेय हरे विष्णो कृष्ण दामोदराच्युत ।
गोविन्दानन्त सर्वेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥२४॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तत् ॥२५॥
भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रप्राणभारावृतानाम् ।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवतु शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ॥२६॥
मुकुन्द मूर्ध्ना प्रणिपत्य याचे
भवन्तमेकान्तमिदन्तमर्थम् ।
अविस्मृतिस्त्वच्चरणारविन्दे
भवे भवे मेऽस्तु तव प्रसादात् ॥२७॥
नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥२८॥
वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं
कुन्देन्दुशङ्खदशनं शिशुगोपवेशम् ।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं
वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम् ॥२९॥

श्रीरामध्यानम्

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकृतासने मणिमये वीरासने संस्थितम्।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनीन्द्रैः परं
व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १ ॥

रामं रत्नकिरीटकुण्डलयुतं केयूरहारान्वितं
सीतालङ्कृतवामभागममलं सिंहासनस्थं विभुम्।
सुग्रीवादिहरीश्वरैः सुरगणैः संसेव्यमानं सदा
विश्वामित्रपराशरादिमुनिभिः संस्तूयमानं प्रभुम् ॥ २ ॥

प्रणामः

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥१॥

श्रीरामस्तुतिः

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ १ ॥

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ २ ॥

यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं
यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च ।
यन्नामसाररसिको भगवान् पुरारि-
स्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि ॥ ३ ॥

यस्यावतारचरितानि विरिञ्चिलोके
गायन्ति नारदमुखा भवपद्मजाद्याः ।
आनन्दजाश्रुपरिषिक्तकुचाग्रसीमा
वागीश्वरी च तमहं शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण
एषः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
मायातनुं लोकविमोहनीयां
धत्ते परानुग्रह एष रामः ॥ ५ ॥

अयं हि विश्वोद्भवसंयमाना-
मेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः ।
विरिञ्चिविष्णवीश्वरनामभेदान्
धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥ ६ ॥

नमोऽस्तु ते राम तवाङ्घ्रिपङ्कजं
श्रिया धृतं वक्षसि लालितं प्रियात् ।
आक्रान्तमेकेन जगत्त्रयं पुरा
ध्येयं मुनीन्द्रैरभिमानवर्जितैः ॥ ७ ॥
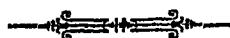
श्रीशिवध्यानम्

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नैः कल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ।
पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥ १ ॥

प्रणामः

नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे ।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर ॥ १ ॥
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरमरिन्दमम् ॥ २ ॥

वेदसारशिवस्तोत्रम्

पशूनां पतिं पापनाशं परेशं
गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम् ।
जटाजूटमध्ये स्फुरद्गाङ्गवारिं
महादेवमेकं स्मरामि स्मरारिम् ॥ १ ॥
महेशं सुरेशं सुरारातिनाशं
विभुं विश्वनाथं विभूत्यङ्गभूपम् ।
विरूपाक्षमिन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रं
सदानन्दमीडे प्रभुं पञ्चवक्त्रम् ॥ २ ॥
गिरीशं गणेशं गले नीलवर्णं
गवेन्द्राधिरूढं गुणातीतरूपम् ।

भवं भास्वरं भस्मना भूषिताङ्गं
भवानीकलत्रं भजे पञ्चवक्त्रम् ॥ ३ ॥

शिवाकान्त शम्भो शशाङ्कार्धमौले
महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन् ।
त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप
प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप ॥ ४ ॥

परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं
निरीहं निराकारमोङ्कारवेद्यम् ।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं
तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥ ५ ॥

न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायु-
र्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा ।
न ग्रीष्मो न शीतं न देशो न वेषो
न यस्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥ ६ ॥

अजं शाश्वतं कारणं कारणानां
शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
तुरीयं तमःपारमाद्यन्तहीनं
प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ ७ ॥

नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्त्ते
नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्त्ते ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य
नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ॥ ८ ॥

प्रभो शूलपाणे विभो विश्वनाथ
महादेव शम्भो महेश त्रिनेत्र।
शिवाकान्त शान्त स्मरारे पुरारे
त्वदन्यो वरेण्यो न मान्यो न गण्यः॥ ६॥

शम्भो महेश करुणामय शूलपाणे
गौरीपते पशुपते पशुपाशनाशिन्।
काशीपते करुणया जगदेतदेकः
त्वं हंसि पासि विदधासि महेश्वरोऽसि॥१०॥

त्वत्तो जगद्भवति देव भव स्मरारे
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश
लिङ्गात्मके हर चराचरविश्वरूपिन्॥११॥

श्रीशिवाष्टकम्

प्रभुमीशमनीशमशेषगुणं गुणहीनमहीशगणाभरणम्।
रणनिर्जितदुर्जयदैत्यपुरं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम्॥१॥
गिरिराजसुतान्वितवामतनुं तनुनिन्दितराजितकोटिविधुम्।
विधिविष्णुशिरःस्थितपादयुगं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम्॥२॥
शशलाञ्छितरञ्जितसन्मुकुटं कटिलम्बितसुन्दरकृत्तिपटम्।
सुरशैवलिनीकृतपूतजटं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम्॥३॥
नयनत्रयभूषितचारुमुखं मुखपद्मविराजितकोटिविधुम्।
विधुखण्डविमण्डितभालतटं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम्॥४॥
वृषराजनिकेतनमादिगुरुं गरलाशनमाजिविषाणधरम्।
प्रमथाधिपसेवकरञ्जनकं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम्॥५॥

मकरध्वजमत्तमतङ्गधरं करिचर्मसनागविबोधकरम् ।
वरदाभयशूलविषाणधरं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम् ॥६॥
जगदुद्भवपालननाशकरं त्रिदिवेशशिरोमणिघृष्टपदम् ।
प्रियमानवसाधुजनैकगतिं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम् ॥७॥
न देयं पुष्पं सदा पापचित्तैः पुनर्जन्मदुःखात्परित्राहि शम्भो ।
भजतोऽखिलदुःखसमूहहरं प्रणमामि शिवं शिवकल्पतरुम् ॥८॥

श्रीशिवनामावल्यष्टकम्

हे चन्द्रचूड मदनान्तक शूलपाणे
स्थाणो गिरीश गिरिजेश महेश शम्भो ।
भूतेश भीतभयसूदन मामनाथं
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥१॥

हे पार्वतीहृदयवल्लभ चन्द्रमौले
भूताधिप प्रमथनाथ गिरीशजाप ।
हे वामदेव भव रुद्र पिनाकपाणे
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥२॥

हे नीलकण्ठ वृषभध्वज पञ्चवक्त्र
लोकेश शेषवलय प्रमथेश शर्व ।
हे धूर्जटे पशुपते गिरिजापते मां
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥३॥

हे विश्वनाथ शिव शंकर देवदेव
गंगाधर प्रमथनायक नन्दिकेश ।

बाणेश्वरान्धकरिपो हर लोकनाथ
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥४॥

वाराणसीपुरपते मणिकर्णिकेश
वीरेश दक्षमखकाल विभो गणेश ।
सर्वज्ञ सर्वहृदयैकनिवास नाथ
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥५॥

श्रीमन्महेश्वर कृपामय हे दयालो
हे व्योमकेश शितिकण्ठ गणाधिनाथ ।
भस्माङ्गराग नृकपालकलापमाल
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥६॥

कैलाशशैलविनिवास वृषाकपे हे
मृत्युञ्जय त्रिनयन त्रिजगन्निवास ।
नारायणप्रियमदापह शक्तिनाथ
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥७॥

विश्वेश विश्वभव नाशितविश्वरूप
विश्वात्मक त्रिभुवनैकगुणाधिवास ।
हे विश्ववन्द्य करुणामय दीनबन्धो
संसारदुःखगहनाज्जगदीश रक्ष ॥८॥

श्रीजगद्धात्रीध्यानम्

ॐ सिंहस्कन्धसमारूढां नानालङ्कारभूषिताम् ।
चतुर्भुजां महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम् ॥ १ ॥
शङ्खचापसमायुक्तवामपाणिद्वयां तथा ।
चक्रबाणसमायुक्तदक्षपाणिद्वयां तथा ॥ २ ॥
रक्तवस्त्रपरीधानां बालार्कसदृशद्युतिम् ।
नारदाद्यैर्मुनिगणैः सेवितां भवसुन्दरीम् ॥ ३ ॥
त्रिवलीवलयोपेतनाभिनालमृणालिनीम् ।
ईषत्सहास्यवदनां काञ्चनाभां वरप्रदाम् ॥ ४ ॥
नवयौवनसम्पन्नां पीनोन्नतपयोधराम् ।
करुणामृतवर्षिण्या पश्यन्तीं साधकं दृशा ॥ ५ ॥
रत्नद्वीपे महाद्वीपे सिंहासनसमन्विते ।
प्रफुल्लकमलारूढां ध्यायेत्तां भवगेहिनीम् ॥ ६ ॥

प्रणामः

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

श्रीदुर्गाध्यानम्

जटाजूटसमायुक्तामर्धेन्दुकृतशेखराम् ।
लोचनत्रयसंयुक्तां पूर्णेन्दुसदृशाननाम् ॥ १ ॥
अतसीपुष्पवर्णाभां सुप्रतिष्ठां सुलोचनाम् ।
नवयौवनसम्पन्नां सर्वाभरणभूषिताम् ॥ २ ॥

सुचारुदशनां तीक्ष्णां पीनोन्नतपयोधराम् ।
त्रिभङ्गस्थानसंस्थानां महिषासुरमर्दिनीम् ॥ ३ ॥
मृणालायतसंस्पर्शदशबाहुसमन्विताम् ।
त्रिशूलं दक्षिणे ध्येयं खड्गं चक्रं क्रमादधः ॥ ४ ॥
तीक्ष्णवाणं तथा शक्तिं बाहुसङ्घेषु सङ्गतम् ।
खेटकं पूर्णचापं च पाशमङ्कुशमूर्ध्वतः ॥ ५ ॥
घण्टां वा परशुं वापि वामेऽधः प्रतियोजयेत् ।
अधस्तान्महिषं तद्वद्विशिरस्कं प्रदर्शयेत् ॥ ६ ॥
शिरश्छेदोद्भवं तद्वद् दानवं खड्गपाणिकम् ।
हृदि शूलेन निर्भिन्नं निर्यदन्त्रविभूषितम् ॥ ७ ॥
रक्तारक्तीकृताङ्गञ्च रक्तविस्फुरितेक्षणम् ।
वेष्टितं नागपाशेन भ्रूकुटीभीषणाननम् ॥ ८ ॥
सपाशवामहस्तेन धृतपाशञ्च दुर्गया ।
वमद्रुधिरवक्त्रं च देव्याः सिंहं प्रदर्शयेत् ॥ ९ ॥
देव्यास्तु दक्षिणं पादं समं सिंहोपरिस्थितम् ।
किञ्चिदूर्ध्वं तथा वाममङ्गुष्ठं महिषोपरि ॥१०॥
स्तूयमानं च तद्रूपममरैः सन्निवेशयेत् ।
उग्रचण्डा प्रचण्डा च चण्डोग्रा चण्डनायिका ॥११॥
चण्डा चण्डवती चैव चण्डरूपातिचण्डिका ।
अष्टाभिः शक्तिभिस्ताभिः सततं परिवेष्टिताम् ॥
चिन्तयेज्जगतां धात्रीं धर्मकामार्थमोक्षदाम् ॥१२॥

श्रीकालीध्यानम्

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥ १ ॥

सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवामाधोर्ध्वकराम्बुजाम् ।
अभयं वरदञ्चैव दक्षिणोर्ध्वाधःपाणिकाम् ॥ २ ॥

महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बराम् ।
कण्ठावसक्तमुण्डालीं गलद्रुधिरचर्चिताम् ॥ ३ ॥

कर्णावतंसतानीतशवयुग्मभयानकाम् ।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥ ४ ॥

शवानां करसङ्घातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम् ।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम् ॥ ५ ॥

घोररावां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् ।
बालार्कमण्डलाकारलोचनत्रितयान्विताम् ॥ ६ ॥

दन्तुरां दक्षिणव्यापिलम्बमानकचोच्चयाम् ।
शवरूपमहादेवहृदयोपरिसंस्थिताम् ॥ ७ ॥

शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम् ।
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम् ॥ ८ ॥

सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् ।
एवं सञ्चिन्तयेत्कालीं धर्मकामसमृद्धिदाम् ॥ ९ ॥

श्रीअन्नपूर्णाध्यानम्

रक्तां विचित्रवसनां नवचन्द्रभूषा-
मन्नप्रदाननिरतां स्तनभारनम्राम्।
नृत्यन्तमिन्दुशकलाभरणं विलोक्य
हृष्टां भजे भगवतीं भवदुःखहन्त्रीम्॥ १॥

प्रणामः

अन्नपूर्णे नमस्तुभ्यं नमस्ते जगदम्बिके।
त्वच्चारुचरणे भक्तिं देहि दीनदयामयि॥ १॥

भवान्यष्टकम्

न तातो न माता न बन्धुर्न दाता
न पुत्रो न पुत्री न भृत्यो न भर्त्ता।
न जाया न विद्या न वृत्तिर्ममैव
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि॥ १॥

भवाब्धावपारे महादुःखभीरुः
पपात प्रकामी प्रलोभी प्रमत्तः।
कुसंसारपाशप्रबद्धः सदाहं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि॥ २॥

न जानामि दानं न च ध्यानयोगं
न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमन्त्रम्।
न जानामि पूजां न च न्यासयोगं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि॥ ३॥

न जानामि पुण्यं न जानामि तीर्थं
न जानामि मुक्तिं लयं वा कदाचित् ।
न जानामि भक्तिं व्रतं चापि मात-
र्गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि ॥ ४ ॥

कुकर्मी कुसङ्गी कुबुद्धिः कुदासः
कुलाचारहीनः कदाचारलीनः ।
कुदृष्टिः कुवाक्यप्रबन्धः सदाहं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि ॥ ५ ॥

प्रजेशं रमेशं महेशं सुरेशं
दिनेशं निशीथेश्वरं वा कदाचित् ।
न जानामि चान्यं सदाहं शरण्यं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि ॥ ६ ॥

विवादे विषादे प्रमादे प्रवासे
जले चानले पर्वते शत्रुमध्ये ।
अरण्ये शरण्ये सदा मां प्रपाहि
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि ॥ ७ ॥

अनाथो दरिद्रो जरारोगयुक्तो
महाक्षीणदीनः सदा जाड्यवक्त्रः ।
विपत्तौ प्रविष्टः प्रणष्टः सदाहं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि ॥ ८ ॥

श्रीदुर्गाष्टकम्

नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे
नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वरूपे।
नमस्ते जगद्वन्द्यपादारविन्दे
नमस्ते जगत्पालिनि त्राहि दुर्गे॥१॥

नमस्ते जगच्चिन्त्यमानस्वरूपे
नमस्ते महायोगिनि ज्ञानरूपे।
नमस्ते सदानन्दनन्दस्वरूपे
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥२॥

अनाथस्य दीनस्य तृष्णातुरस्य
भयार्त्तस्य भीतस्य बद्धस्य जन्तोः।
त्वमेका गतिर्देवि निस्तारदात्रि
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥३॥

अरण्ये रणे दारुणे शत्रुमध्ये-
ऽनले सागरे प्रान्तरे राजगेहे।
त्वमेका गतिर्देवि निस्तारहेतु-
र्नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥४॥

अपारे महादुस्तरेऽत्यन्तघोरे
विपत्सागरे मज्जतां देहभाजाम्।

त्वमेका गतिर्देवि निस्तारनौका
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ५ ॥

नमश्चण्डिके चण्डदोर्दण्डलीला-
लसत्खण्डिताखण्डलाशेषभीते ।
त्वमेका गतिर्विघ्नसन्दोहहन्त्री
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ६ ॥

त्वमेकाजिताराधिता सत्यवादि-
न्यमेयाजिताक्रोधनाक्रोधनिष्ठा ।
इडा पिङ्गला त्वं सुषुम्ना च नाडी
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ७ ॥

नमो देवि दुर्गे शिवे भीमनादे
सरस्वत्यरुन्धत्यमोघस्वरूपे ।
विभूतिः शची कालरात्रिः सती त्वं
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ८ ॥

शरणमपि सुराणां सिद्धविद्याधराणां
मुनिदनुजनराणां व्याधिभिः पीडितानाम् ।
नृपतिगृहगतानां दस्युभिस्त्रासितानां
त्वमसि शरणमेका देवि दुर्गे प्रसीद ॥ ९ ॥

इदं स्तोत्रं मया प्रोक्तमापदुद्धारहेतुकम् ।
त्रिसन्ध्यमेकसन्ध्यं वा पठनादेव सङ्कटात् ।
मुच्यते नात्र सन्देहो भुवि स्वर्गे रसातले ॥ १० ॥

श्रीगिरिजादशकम्

मन्दारकल्पहरिचन्दनपारिजात-
मध्ये शशाङ्कमणिमण्डितवेदिसंस्थे।
अर्धेन्दुमौलिसुललाटषडर्धनेत्रे
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥ १॥

आलीकदम्बपरिशोभितपार्श्वभागे
शक्रादयो मुकुलिताञ्जलयः स्तुवन्ति।
देवि त्वदीयचरणौ शरणं प्रपद्ये
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥ २॥

केयूरहारमणिकङ्कणकर्णपूर-
काञ्चीकलापमणिकान्तिलसद्दुकूले।
दुग्धान्नपूर्णवरकाञ्चनदर्विहस्ते
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥ ३॥

सद्भक्तकल्पलतिके भुवनैकवन्द्ये-
भूतेशहृत्कमलमग्नकुचाग्रभृङ्गे।
कारुण्यपूर्णनयने किमुपेक्षसे मां
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥ ४॥

शब्दात्मिके शशिकलाभरणार्द्धदेहे
शम्भोरुरःस्थलनिकेतननित्यवासे।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥ ५॥

लीलावचांसि तव देवि ऋगादिवेदाः
सृष्ट्यादिकर्मरचना भवदीयचेष्टा।

त्वत्तेजसा जगदिदं प्रतिभाति नित्यं
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम् ॥ ६ ॥

वृन्दारवृन्दमुनिनारदकौशिकात्रि-
व्यासाम्बरीपकलशोद्भवकश्यपाद्याः।
भक्त्या स्तुवन्ति निगमागमसूक्तमन्त्रै-
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम् ॥ ७ ॥

अम्ब त्वदीयचरणाम्बुजसेवनेन
ब्रह्मादयोऽप्यखिलजां श्रियमालभन्ते।
तस्मादहं तव नतोऽस्मि पदारविन्दे
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम् ॥ ८ ॥

सन्ध्यात्रये सकलभूसुरसेव्यमाने
स्वाहास्वधासिपितृदेवगणार्त्तिहन्त्री ।
जायासुताः परिजनोऽतिथयोऽन्नकामाः
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम् ॥ ९ ॥

एकाम्रमूलनिलयस्य महेश्वरस्य
प्राणेश्वरी प्रणतभक्तजनाय शीघ्रम्।
कामाक्षिरक्षितजगत्त्रितयेऽन्नपूर्णे
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम् ॥ १० ॥

भक्त्या पठन्ति गिरिजादशकं प्रभाते
कामार्थिनो बहुधनान्नसमृद्धिकामाः।
प्रीत्या महेशवनिता हिमशैलकन्या
तेभ्यो ददाति सततं मनसेप्सितानि ॥ ११ ॥

श्रीसरस्वतीध्यानम्

तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्ति
कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः॥१॥

जो नूतन चन्द्रकला धारण किये हैं, श्वेतकान्तिसे सुशोभित हैं, स्तन-भारसे जिनका शरीर झुका हुआ है और जो श्वेतकमलपर विराजमान हैं तथा जिनके करकमलोंमें सुशोभित पुस्तक और लेखनीकी (अपूर्व) शोभा हो रही है वह वाग्देवी सम्पूर्ण वैभवों-की सिद्धिके लिये हमारी रक्षा करें।

पुष्पाञ्जलिमन्त्राः

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या श्वेतपद्मासना
या वीणावरदण्डमण्डितभुजा या शुभ्रवस्त्रावृता।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥१॥
सा मे वसतु जिह्वायां वीणापुस्तकधारिणी।
मुरारिवल्लभा देवी सर्वशुक्ला सरस्वती॥२॥
सरस्वति महाभागे विद्ये कमललोचने।
विश्वरूपे विशालाक्षि विद्यां देहि नमोऽस्तु ते॥३॥

जो कुन्दकुसुम, चन्द्रमा और तुषारमालाके समान श्वेतवर्ण और श्वेत कमलके आसनपर विराजमान हैं, जिनकी भुजाएँ वीणा-

के मनोहर दण्डसे विभूषित हैं और जो शुभ्र वस्त्रसे आवृत हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आदि देवगण जिनकी सर्वदा वन्दना करते हैं, (जीवोंकी) सम्पूर्ण जड़ताको दूर करनेवाली वे भगवती सरस्वती मेरी रक्षा करें।

वह वीणापुस्तकधारिणी, सर्वांगशुभ्रा विष्णुप्रिया देवी सरस्वती सर्वदा मेरी जिह्वापर निवास करें।

हे सरस्वति! हे महाभागे! हे विद्ये! हे कमललोचने! हे विश्वरूपे! हे विशालाक्षि! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप मुझे विद्या प्रदान कीजिये।

प्रणामः

सरस्वत्यै नमो नित्यं भद्रकाल्यै नमो नमः।
वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यास्थानेभ्य एव च ॥ १ ॥

मैं सरस्वतीको सर्वदा प्रणाम करता हूँ, माता भद्रकाली-को मेरा बारम्बार प्रणाम है, तथा वेद, वेदान्त, वेदाङ्ग और विद्यालयोंको भी मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।

श्रीसरस्वतीस्तोत्रम्

श्वेतपद्मासना देवी श्वेतपुष्पोपशोभिता।
श्वेताम्बरधरा नित्या श्वेतगन्धानुलेपना ॥ १ ॥
श्वेताक्षसूत्रहस्ता च श्वेतचन्दनचर्चिता।
श्वेतवीणाधरा शुभ्रा श्वेतालङ्कारभूषिता ॥ २ ॥

वन्दिता सिद्धगन्धर्वैरर्चिता सुरदानवैः ।
पूजिता मुनिभिः सर्वैर्ऋषिभिः स्तूयते सदा ॥ ३ ॥
स्तोत्रेणानेन त्वां देवीं जगद्धात्रीं सरस्वतीम् ।
ये स्मरन्ति त्रिसन्ध्यायां सर्वां विद्यां लभन्ति ते ॥ ४ ॥
ज्ञानं देहि स्मृतिं देहि विद्यां विद्याधिदेवते ।
प्रतिष्ठां कवितां देहि शक्तिं शिष्यप्रबोधिनीम् ॥ ५ ॥
ग्रन्थकर्त्तृत्वशक्तिं च सच्छिष्यं सत्प्रतिष्ठितम् ।
प्रतिभां सत्सभायां च विचारक्षमतां शुभाम् ॥ ६ ॥
ब्रह्मस्वरूपा परमा ज्योतीरूपा सनातनी ।
सर्वविद्याधिदेवी या तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥ ७ ॥
यया विना जगत्सर्वं शश्वज्जीवन्मृतं भवेत् ।
ज्ञानाधिदेवी या तस्यै सरस्वत्यै नमो नमः ॥ ८ ॥
यया विना जगत्सर्वं मूकमुन्मत्तवत् सदा ।
वागधिष्ठात्री या देवी तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥ ६ ॥
हिमचन्दनकुन्देन्दुकुमुदाम्भोजसन्निभा ।
वर्णाधिदेवी या तस्यै चाक्षरायै नमो नमः ॥१०॥
विसर्गविन्दुमात्रासु यदधिष्ठानमेव च ।
तदधिष्ठात्री या देवी तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥११॥
व्याख्यास्वरूपा या देवी व्याख्याधिष्ठातृदेवता ।
भ्रमसिद्धान्तरूपा या तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥१२॥
स्मृतिशक्तिज्ञानशक्तिबुद्धिशक्तिस्वरूपिणी ।
प्रतिभाकल्पनाशक्तिर्या च तस्यै नमो नमः ॥१३॥

श्रीवाल्मीकिकृतगङ्गाष्टकम्

मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृङ्गारहारावलि
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये ।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिमुत्प्रेङ्खत-
स्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः ॥ १ ॥

हे मातः ! तुम गिरिजानन्दिनी पार्वतीकी सौत हो, पृथिवीकी शृङ्गाररूपा हारावलि हो और स्वर्गारोहणके लिये मानो विजय-पताका हो (अर्थात् जो पुरुष तुम्हारा आश्रय करता है, समझना चाहिये स्वर्ग उसके हस्तामलकवत् है) । हे मा भागीरथि ! मैं तुमसे एक प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे तीरपर निवास करते हुए, तुम्हारा जल पीते हुए, तुम्हारी तरङ्गावलि निहारते हुए, तुम्हारा नाम स्मरण करते हुए और तुम्हारी ही ओर दृष्टि लगाये हुए मेरा शरीरपात हो ।

त्वत्तीरे तरुकोटरान्तरगतो गङ्गे विहङ्गो वरं
त्वन्नीरे नरकान्तकारिणि वरं मत्स्योऽथवा कच्छपः ।
नैवान्यत्र मदान्धसिन्धुरघटासङ्घट्टघण्टारणत्-
कारत्रस्तसमस्तवैरिवनितालब्धस्तुतिर्भूपतिः ॥ २ ॥

हे गंगे ! तुम्हारे तटपर वृक्षके कोटरमें पक्षी होकर रहना अच्छा है, तथा हे नरकनिवारिणि ! तुम्हारे जलमें मत्स्य अथवा कच्छप होकर निवास करना भी अच्छा ही है परन्तु अन्यत्र अर्थात्

जहाँ तुम नहीं हो, वहाँ, मदमत्त हाथियोंके समूहके पारस्परिक संघर्षसे होनेवाले भयानक घण्टानादसे भयभीत होकर भगे हुए शत्रुओंकी स्त्रियाँ जिसकी स्तुति करती हैं, ऐसा राजा होना भी किसी कामका नहीं ।

काकैर्निष्कुषितं श्वभिः कवलितं वीचीभिरान्दोलितं
स्रोतोभिश्चलितं तटान्तमिलितं गोमायुभिर्लुण्ठितम् ।
दिव्यस्त्रीकरचारुचामरमरुत्संवीज्यमानः कदा
द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरि त्रिपथगे भागीरथि स्वं वपुः ॥ ३ ॥

हे परमेश्वरि त्रिपथगामिनि भागीरथि ! (तुम्हारे जलमें शरीर त्यागनेपर) ऐसा कब होगा जब मैं (स्वर्गलोकमें) सुरसुन्दरियोंके करकमलोंमें सुशोभित सुन्दर चामरोंकी शीतल समीर सेवन करता हुआ देखूँगा कि मेरे शरीरको कौए नोच रहे हैं, कुत्ते खा रहे हैं, तुम्हारी तरङ्गोंमें पड़कर वह इधर-उधर डोल रहा है तथा कभी प्रवाहमें पड़कर बहने लगता है और कभी जब किनारेपर लगता है तो शृगाल उसे घसीटने लगते हैं ।

अभिनवबिसवल्ली पादपद्मस्य विष्णो-
र्मदनमथनमौलेर्मालतीपुष्पमाला ।
जयति जयपताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्म्याः
क्षपितकलिकलङ्का जाह्नवी मां पुनातु ॥ ४ ॥

जो विष्णुभगवान्‌के चरणकमलकी नूतन मृणाल (कमल-नाल) है तथा मदनकदन भगवान् शङ्करके मस्तककी मालती-

माला है वह मोक्षलक्ष्मीकी कोई जयपताकारूप यह (गंगा) जयको प्राप्त हो, वह कलिकलङ्कविनाशिनी जाह्नवी मुझे पवित्र करे।

यत्तत्तालतमालशालसरलव्यालोलवल्लीलता-
च्छन्नं सूर्यकरप्रतापरहितं शङ्खेन्दुकुन्दोज्ज्वलम्।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरवधूतुङ्गस्तनास्फालितं
स्नानाय प्रतिवासरं भवतु मे गाङ्गं जलं निर्मलम् ॥ ५ ॥

जो ताल, तमाल, शाल और सरल वृक्षोंकी शाखाओंके आश्रित लताओंसे ढँका हुआ और सूर्यकिरणोंके तापसे रहित है, शङ्ख, चन्द्र और कुन्दके समान उज्ज्वल है तथा गन्धर्व, देवता, सिद्ध और किन्नरकामिनियोंके पीन पयोधरोंसे आलोडित है वह निर्मल गङ्गाजल नित्यप्रति मेरे स्नान करनेके लिये हो।

गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्।
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम् ॥ ६ ॥

जो विष्णुभगवान्‌के चरणसे च्युत और त्रिपुरविनाशक श्रीशङ्करके मस्तकपर सुशोभित है वह पापापहारी मनोहर गङ्गोदक मुझे पवित्र करे।

पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि
दूरप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि।
झङ्कारकारि हरिपादरजोविहारि
गाङ्गं पुनातु सततं शुभकारि वारि ॥ ७ ॥

जो पापोंको दूर करनेवाला, दुष्कर्मोंका शत्रु, तरङ्गपूर्ण, गिरिराजकी गुहाको विदीर्णकर दूरतक बहनेवाला और श्रीहरिकी चरण-रजमें क्रीडा करनेवाला है वह शुभकारी गंगोदक मुझे सर्वदा पवित्र करे।

वरमिह गङ्गातीरे सरटः करटः शुनीतनयः।
न पुनर्दूरतरस्थः करिवरकोटीश्वरो नृपतिः॥८॥

इस गंगा-तटपर गिरगिट, काक तथा कुत्ता होकर रहना अच्छा है, किन्तु इससे दूर देशमें करोड़ों गजराजोंका स्वामी कोई राजा होना भी किसी कामका नहीं है।

गङ्गाष्टकं पठति यः प्रयतः प्रभाते
वाल्मीकिना विरचितं शुभदं मनुष्यः।
प्रक्षाल्य सोऽपि कलिकल्मषपङ्कमाशु
मोक्षं लभेत् पतति नैव पुनर्भवाब्धौ॥९॥

जो पुरुष प्रातःकाल एकाग्रचित्तसे महर्षि वाल्मीकिके रचे हुए इस शुभप्रद गंगाष्टकका पाठ करता है वह शीघ्र ही अपने कलिकलुषरूप कीचड़को धोकर मोक्ष प्राप्त करता है और फिर संसारसमुद्रमें नहीं गिरता।

श्रीशङ्कराचार्यकृतगङ्गास्तोत्रम्

देवि सुरेश्वरि भगवति गङ्गे
त्रिभुवनतारिणि तरलतरङ्गे।

शङ्करमौलिविहारिणि विमले
मम मतिरास्तां तव पदकमले ॥ १ ॥
भागीरथि सुखदायिनि मात-
स्तव जलमहिमा निगमे ख्यातः।
नाहं जाने तव महिमानं
पाहि कृपामयि मामज्ञानम् ॥ २ ॥
हरिपदपद्मतरङ्गिणि गङ्गे
हिमविधुमुक्ताधवलतरङ्गे।
दूरीकुरु मम दुष्कृतिभावं
कुरु कृपया भवसागरपारम् ॥३॥
तव जलममलं येन निपीतं
परमपदं खलु तेन गृहीतम्।
मातर्गङ्गे त्वयि यो भक्तः
किल तं द्रष्टुं न यमः शक्तः ॥४॥
पतितोद्धारिणि जाह्नवि गङ्गे
खण्डितगिरिवरमण्डितभङ्गे।
भीष्मजननि हे मुनिवरकन्ये
पातकनाशिनि त्रिभुवनधन्ये ॥५॥
कल्पलतामिव फलदां लोके
प्रणमति यस्त्वां न पतति शोके।
पारावारविहारिणि गङ्गे
विमुखयुवतिकृततरलापाङ्गे ॥६॥

तव चेन्मातः स्रोतःस्नातः
पुनरपि जठरे सोऽपि न जातः।
नरकनिवारिणि जाह्नवि गङ्गे
कलुषविनाशिनि महिमोत्तुङ्गे ॥७॥

पुनरसदङ्गे पुण्यतरङ्गे
जय जय जाह्नवि करुणापाङ्गे।
इन्द्रमुकुटमणिराजितचरणे
सुखदे शुभदे भृत्यशरण्ये ॥८॥

रोगं शोकं तापं पापं
हर हे भगवति कुमतिकलापम्।
त्रिभुवनसारे वसुधाहारे
त्वमसि गतिर्मम खलु संसारे ॥९॥

अलकानन्दे परमानन्दे
कुरु करुणामयि कातरवन्द्ये।
तव तटनिकटे यस्य निवासः
खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः ॥१०॥

वरमिह नीरे कमठो मीनः
अथवा श्वपचो मलिनो दीनः।
किंवा तीरे शरटः क्षीणः
तव नहि दूरे नृपतिकुलीनः ॥११॥

भो भुवनेश्वरि पुण्ये धन्ये
देवि द्रवमयि मुनिवरकन्ये।

गङ्गास्तवमिदममलं नित्यं
पठति नरो यः स जयति सत्यम् ॥१२॥
येषां हृदये गङ्गाभक्तिः
तेषां भवति सदा सुखमुक्तिः ।
मधुरा कान्ता पञ्झटिकाभिः
परमानन्दकलितललिताभिः ॥१३॥
गङ्गास्तोत्रमिदं भवसारं
वाञ्छितफलदं विमलं सारम् ।
शङ्करसेवकशङ्कररचितं
पठति सुखी स्तव इति च समाप्तः ॥१४॥

ब्रह्मस्तोत्रम्

नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय
नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥१॥

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥२॥

भयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं
परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम् ॥३॥

परेश प्रभो सर्वरूपाविनाशिन्
अनिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य।
अचिन्त्याक्षर व्यापकाव्यक्ततत्त्व
जगद्भासकाधीश पायादपायात् ॥४॥

तदेकं स्मरामस्तदेकं भजाम-
स्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥५॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥६॥
हृदयकमलमध्ये निर्विशेषं निरीहं
हरिहरविधिवेद्यं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
जननमरणभीतिभ्रंशि सच्चित्स्वरूपं
सकलभुवनबीजं ब्रह्म चैतन्यमीडे ॥७॥
अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधारमूर्त्तये ब्रह्मणे नमः ॥८॥
नमस्ते परमब्रह्म नमस्ते परमात्मने ।
निर्गुणाय नमस्तुभ्यं सद्रूपाय नमो नमः ॥९॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥१०॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥११॥
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं वै करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥१२॥

उपनिषद्वचनानि

तस्मै स होवाच पितामहश्च
श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ।
न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥ १ ॥

पितामह ब्रह्माने उससे कहा—हे वत्स ! उसे तू श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योगके द्वारा जान, क्योंकि कर्म, प्रजा अथवा धनसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अमरता तो एकमात्र त्यागसे ही मिल सकती है।

यत् परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत् ॥ २ ॥

जो परमब्रह्म, सबका अन्तरात्मा, विश्वका आश्रयस्थान, अति महान्, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और नित्य है वह तू ही है; वह तू ही है।

परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ॥ ३ ॥

जो स्वर्गसे भी परे, बुद्धिरूप गुहामें स्थित और प्रकाशमान है तथा जिसमें वेदान्त और विज्ञानद्वारा निश्चितमति यतिजन ही संन्यास और योगकी सहायतासे शुद्धसत्त्व होकर प्रवेश कर सकते हैं (वही शुद्ध ब्रह्म है) ।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥ ४ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें जो कुछ भोग्य (विषय) भोक्ता (विषयी) और भोग (विषयग्रहण) है; उससे मैं चिन्मात्र सदाशिव साक्षी सर्वथा भिन्न हूँ ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण जगत् मुझहीमें उत्पन्न हुआ है, मुझहीमें स्थित है और मुझहीमें लीन हो जाता है—मैं वही अद्वय ब्रह्म हूँ ।

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ ६ ॥

वह (परमाणु आदि) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और (आकाशादि) महान्से भी महान् आत्मा इस जीवकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है । आत्माके उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपको कोई कामनाशून्य और शोकहीन पुरुष ही भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होनेपर देख पाता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ ७ ॥

यह चैतन्यस्वरूप आत्मा शास्त्र-चर्चासे प्राप्त होने योग्य नहीं है और न यह बुद्धि, बल अथवा बहुत पढ़ने-लिखनेसे ही प्राप्त हो सकता है । यह तो उसीको प्राप्त होता है जिसे (उसकी अविचल

श्रद्धा-भक्तिके कारण) यह स्वीकार कर लेता है। उसके प्रति यह आत्मा अपना वास्तविक स्वरूप प्रकाशित कर देता है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ८॥

इस आत्मासे ही प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और चराचर जगत्को धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ ९॥

जो पुरुष दुष्कर्म (पाप) से नहीं बचता, जो अशान्त और एकाग्रताशून्य है तथा जिसका चित्त चञ्चल है वह ब्रह्मविचार करनेपर भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥१०॥

जो (जीवात्मारूप रथी) सदसद्विवेकबुद्धिरूप सारथिसे युक्त संयतचित्त एवं सर्वदा शुद्धान्तःकरण होता है वही उस पदको प्राप्त कर सकता है जहाँसे फिर संसारमें जन्म नहीं लेता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥११॥

जो पुरुष विवेकरूप सारथि और मनरूप लगामोंसे युक्त है अर्थात् जो इच्छा करते ही मन और इन्द्रियोंको रोककर अन्तर्मुख कर सकता है वही इस संसार-मार्गको पार करके भगवान्के उस परम पदको प्राप्त कर सकता है।

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥१२॥

जो अविवेकी पुरुष बाह्य भोगोंके पीछे भटकते हैं वे सर्वव्यापी मृत्युके चङ्गुलमें फँस जाते हैं । इसीलिये विवेकी पुरुष नित्य और निश्चल आत्मपदको जानकर इन स्त्री-पुत्रादि अनित्य पदार्थोंकी इच्छा नहीं करते ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१३॥

सर्वनियन्ता सर्वभूतान्तर्यामी परमात्मा एक होकर भी अपने उस एकमात्र रूपको (देव, मनुष्य और तिर्यगादिके रूपमें) अनेक प्रकारसे प्रकाशित करता है । जो विवेकी पुरुष अपने अन्तःकरणमें स्थित उस चैतन्य-स्वरूप आत्माका साक्षात्कार करते हैं उन्हें ही नित्यानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१४॥

जो नित्योंका नित्य है, चेतन जीवोंको भी जो चेतना देनेवाला है तथा जो एक होकर भी अनेक जीवोंको उनके कर्मानुसार भोग प्रदान करता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस

आत्माको जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हींको नित्यानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१५॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि सम्पूर्ण जगत्में प्रविष्ट होकर काष्ठादि विभिन्न दाह्य पदार्थोंके रूपानुसार उन्हींके समान भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकाशित होता है उसी प्रकार समस्त भूतोंके भीतर विराजमान एक ही आत्मा उन भिन्न-भिन्न उपाधियोंके अनुरूप प्रतीत होता है, किन्तु वास्तवमें वह उनसे परे है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥१६॥

जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण जगत्का नेत्र होकर भी नेत्रेन्द्रिय-के विषयरूप बाह्य पदार्थोंसे दूषित नहीं होता उसी प्रकार समस्त भूतोंके भीतर विराजमान एक ही आत्मा लोगोंकी बुद्धिसे ग्रहण किये जानेवाले दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह असङ्ग है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

इस परमात्माका रूप किसीकी इन्द्रियोंका विषय नहीं है,

इसे कोई नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता । यह विकल्प-हीन बुद्धि अथवा निश्चल मनसे ही यथावत् प्रकाशित होता है । जो पुरुष इसे जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१८॥

जब मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि चेष्टा नहीं करती, योगिजन उसीको परम गति कहते हैं ।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१९॥

जब धीर पुरुष आत्मामें चित्त स्थिर करनारूप योगके द्वारा उस दुर्विज्ञेय, अव्यक्त-स्वरूप,सम्पूर्ण भूतोंमें अनुप्रविष्ट, प्राणिमात्रकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित और उनके देहरूप गह्वरमें अधिष्ठित उस नित्य-सिद्ध परमात्माको जान लेता है तो वह हर्ष-शोकसे मुक्त हो जाता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥२०॥

उस ब्रह्म-स्वरूपमें न सूर्यका प्रकाश है और न चन्द्र या तारोंका । उसे बिजली भी प्रकाशित नहीं कर सकती, फिर अग्निकी तो बात ही क्या है ? वह परब्रह्म प्रकाशमान है, ये सूर्यादि भी उसीसे प्रकाशित होते हैं तथा उसीके तेजसे यह सम्पूर्ण जगत् भासित होता है ।

हस्तामलकस्तोत्रम्

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतन्मयोक्तं वद चार्भक त्वं
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि ॥ १ ॥

हे शिशो ! तू कौन है ? किसका पुत्र है ? कहाँ जायगा ? तेरा नाम क्या है ? और तू आया कहाँसे है ? हे बालक ! मेरी प्रसन्नताके लिये तू मेरे इन सब प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दे। तुझे देखकर तुझमें मेरी प्रीति बढ़ रही है।

हस्तामलक उवाच

नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो
न ब्राह्मणो क्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥ २ ॥

हस्तामलकने कहा—मैं न मनुष्य हूँ, न देवता या यक्ष हूँ, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हूँ और न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी ही हूँ। मैं तो स्वानन्द-स्वरूप आत्मा हूँ।

निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ
निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः।
रविर्लोकचेष्टानिमित्तं तथा यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण जगत्‌के व्यापारोंका कारण है उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिका कारण मन है। मैं तो

सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित आकाशके समान वह नित्य-ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही हूँ।

यमग्न्युष्णवन्नित्यबोधस्वरूपं
मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि।
प्रवर्तन्त आश्रित्य निष्कम्पमेकं
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ४ ॥

जिस प्रकार अग्निका स्वरूप उष्णता है उसी प्रकार निज-बोध जिसका स्वरूप है, जो निश्चल और अद्वितीय है तथा जिसका आश्रय करके मन और चक्षु आदि इन्द्रियाँ अचेतन होनेपर भी अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होती हैं, वह नित्य-बोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो
मुखत्वात् पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दर्पणमें दिखायी देनेवाला मुखका प्रतिबिम्ब मुखरूप ही होनेसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है उसी प्रकार बुद्धिमें चेतनका आभासरूप जीव भी (चेतन आत्मासे भिन्न नहीं है)। वह नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धीवियोगे निराभासको यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ६ ॥

जिस प्रकार दर्पणके अभावमें आभासके न रहनेपर एकमात्र कल्पनाहीन मुख ही रह जाता है उसी प्रकार बुद्धिके अभावमें जो आभासरहित विद्यमान रहता है वह नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

मनश्चक्षुरादेर्वियुक्तः स्वयं यो
मनश्चक्षुरादेर्मनश्चक्षुरादिः।
मनश्चक्षुरादेरगम्यस्वरूपः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ७ ॥

जो मन और चक्षु आदिसे रहित होनेपर भी मन और चक्षु आदिका भी मन और चक्षु आदि है। अतः जिसका स्वरूप मन और चक्षु आदिका विषय नहीं है वह नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः
प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु।
शरावोदकस्थो यथा भानुरेकः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ८ ॥

अनेक जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान जो शुद्धचेतन प्रकाशस्वरूप होकर भी अकेला ही भिन्न-भिन्न बुद्धियोंमें अनेक-सा प्रतीत होता है वह नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

यथानेकचक्षुःप्रकाशो रविर्न
क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम्।
अनेका धियो यस्तथैकः प्रबोधः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ९ ॥

जिस प्रकार अनेकों चक्षुओंका प्रकाशक सूर्य बिना क्रमके ही सम्पूर्ण प्रकाश्यवर्गको प्रकाशित करता है उसी प्रकार जो ज्ञानस्वरूप अकेला ही एक साथ अनेक बुद्धियोंको प्रकाशित करता है वह नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

विवस्वत्प्रभातं यथा रूपमक्षं
प्रगृह्णाति नाभातमेवं विवस्वान्।
यदाभास आभासयत्यक्षमेकः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१०॥

जिस प्रकार नेत्रेन्द्रिय सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होनेपर ही रूपको ग्रहण करनेमें समर्थ होती है उसके बिना नहीं, उसी प्रकार जिसके प्रकाशसे प्रकाशित होकर सूर्य नेत्रेन्द्रियको प्रकाशित करता है वह एकमात्र नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

यथा सूर्य एकोऽप्यनेकश्चलासु
स्थिरास्वप्यनन्यद्विभाव्यस्वरूपः।
चलासु प्रभिन्नः सुधीष्वेक एव
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥११॥

जिस प्रकार सूर्य एक होनेपर भी उसका प्रतिबिम्ब चञ्चल और स्थिर-भेदसे अनेक जलपात्रोंमें उन्हींके समान भिन्न-भिन्न रूपसे भासता है उसी प्रकार जो अकेला ही नाना प्रकारकी बुद्धियोंमें अनेकरूप प्रतीत होता है वह नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ।

घनाच्छन्नदृष्टिर्घनाच्छन्नमर्कं
यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१२॥

अत्यन्त मूढ़ पुरुष, जिस प्रकार मेघोंसे दृष्टिके आच्छादित हो जानेपर सूर्यहीको प्रभाहीन मानने लगता है उसी प्रकार मूढ़बुद्धियोंको जो बद्धके समान प्रतीत होता है वह नित्यबोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ ।

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं
समस्तानि वस्तूनि यन्न स्पृशन्ति ।
वियद्वत् सदा शुद्धस्वच्छस्वरूपं
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१३॥

जो अकेला ही सम्पूर्ण वस्तुओंमें ओतप्रोत है, तो भी वे सारी वस्तुएँ जिसे स्पर्श नहीं कर सकतीं तथा जो आकाशके समान सदा शुद्ध और स्वच्छ है वह नित्यबोधस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ ।

उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां
तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि ।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं
तथा चञ्चलत्वं तवापीह विष्णोः ॥१४॥

जिस प्रकार उपाधियोंके भेदसे (उनके वर्णसे अनुरञ्जित) मणियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी भासती हैं उसी प्रकार बुद्धियोंकी भिन्नताके कारण ही तुझ आत्माका भेद देखा जाता है । तथा जिस प्रकार जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब चञ्चल प्रतीत होता है उसी प्रकार लोकमें तुझ विष्णु (व्यापक) की चञ्चलता है । (वास्तवमें तो तू नित्य स्थिर और एकरूप है) ।

मणिरत्नमाला

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
संमज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैत-
द्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥ १ ॥

प्रश्न	उत्तर
हे दयामय गुरुदेव ! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएका आश्रय क्या है ?	विश्वपति परमात्माके चरण-कमलरूपी जहाज ।

बद्धो हि को यो विषयानुरागी
का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः।
को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः
तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति ॥ २ ॥

प्रश्न	उत्तर
वास्तवमें बँधा कौन है ?	विषयोंमें आसक्त ।
विमुक्ति क्या है ?	विषयोंमें वैराग्य ।
घोर नरक क्या है ?	अपना शरीर ।
स्वर्गका पद क्या है ?	तृष्णाका नाश होना ।

संसारहृत्कः श्रुतिजात्मबोधः
को मोक्षहेतुः कथितः स एव ।

द्वारं किमेकं नरकस्य नारी
का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा ॥ ३ ॥

प्रश्न	उत्तर
संसारको हरनेवाला कौन है ?	वेदसे उत्पन्न आत्मज्ञान ।
मोक्षका कारण क्या कहा गया है ?	वही आत्मज्ञान ।
नरकका प्रधान द्वार क्या है ?	नारी ।
स्वर्गको देनेवाली क्या है ?	जीवमात्रकी अहिंसा ।

शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो
जागर्ति को वा सदसद्विवेकी ।
के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि
तान्येव मित्राणि जितानि यानि ॥ ४ ॥

प्रश्न	उत्तर
(वास्तवमें) सुखसे कौन सोता है ?	जो परमात्माके स्वरूपमें स्थित है ।
और कौन जागता है ?	सत् और असत्के तत्त्वका जाननेवाला ।
शत्रु कौन हैं ?	अपनी इन्द्रियाँ । परन्तु जो जीती हुई हों तो वही मित्र हैं ।

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः ।
जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः
किं वाऽमृतं स्यात्सुखदा निराशा ॥५॥

प्रश्न	उत्तर
दरिद्र कौन है ?	भारी तृष्णावाला।
और धनवान् कौन है ?	जिसे सब तरहसे सन्तोष है।
(वास्तवमें) जीते जी मरा कौन है ?	जो पुरुषार्थहीन है।
और अमृत क्या हो सकता है ?	सुख देनेवाली निराशा (आशासे रहित होना)।

पाशो हि को यो ममताभिमानः
सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री।
को वा महान्धो मदनातुरो यो
मृत्युश्च को वाऽपयशः स्वकीयम् ॥ ६ ॥

प्रश्न	उत्तर
वास्तवमें बन्धन क्या है ?	जो 'मैं' और 'मेरा' पन है।
मदिराकी तरह क्या चीज निश्चय ही मोहित कर देती है ?	नारी ही।
और बड़ा भारी अन्धा कौन है ?	जो कामवश व्याकुल है।
मृत्यु क्या है ?	अपनी अपकीर्ति।

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव।
को दीर्घरोगो भव एव साधो
किमौषधं तस्य विचार एव ॥ ७ ॥

प्रश्न	उत्तर
गुरु कौन है ?	जो केवल हितका ही उपदेश करनेवाला है ।
शिष्य कौन है ?	जो गुरुका भक्त है, वही ।
बड़ा भारी रोग क्या है ?	हे साधु ! बार-बार जन्म लेना ही ।
उसकी दवा क्या है ?	परमात्माके स्वरूपका मनन ही ।

किं भूषणाद्भूषणमस्ति शीलं
तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम् ।
किमत्र हेयं कनकं च कान्ता
श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम् ॥ ८ ॥

प्रश्न	उत्तर
भूषणोंमें उत्तम भूषण क्या है ?	उत्तम चरित्र ।
सबसे उत्तम तीर्थ क्या है ?	अपना मन जो विशेषरूपसे शुद्ध किया हुआ हो ।
इस संसारमें त्यागने योग्य क्या है ?	कञ्चन और कामिनी ।
सदा (मन लगाकर) सुनने योग्य क्या है ?	वेद और गुरुका वचन ।

के हेतवो ब्रह्मगतेस्तु सन्ति
सत्सङ्गतिर्दानविचारतोषाः ।
के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागा
अपास्तमोहाः शिवतत्त्वनिष्ठाः ॥ ९ ॥

प्रश्न	उत्तर
परमात्माकी प्राप्तिके क्या-क्या साधन हैं ?	सत्सङ्ग, सात्त्विक दान, परमेश्वरके स्वरूपका मनन और सन्तोष ।
महात्मा कौन हैं ?	सम्पूर्ण संसारसे जिनकी आसक्ति नष्ट हो गयी है, जिनका अज्ञान नाश हो चुका है और जो कल्याण-रूप परमात्मतत्त्वमें स्थित हैं ।

को वा ज्वरः प्राणभृतां हि चिन्ता
मूर्खोऽस्ति को यस्तु विवेकहीनः ।
कार्या प्रिया का शिवविष्णुभक्तिः
किं जीवनं दोषविवर्जितं यत् ॥१०॥

प्रश्न	उत्तर
प्राणियोंके लिये वास्तवमें ज्वर क्या है ?	चिन्ता ।
मूर्ख कौन है ?	जो विचारहीन है ।
करने योग्य प्यारी क्रिया क्या है ?	शिव और विष्णुकी भक्ति ।
वास्तवमें जीवन कौन-सा है ?	जो सर्वथा निर्दोष है ।

विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या
बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः ।
को लाभ आत्मावगमो हि यो वै
जितं जगत्केन मनो हि येन ॥११॥

प्रश्न	उत्तर
वास्तवमें विद्या कौन-सी है ?	जो परमात्माको प्राप्त करा देनेवाली है।
वास्तविक ज्ञान क्या है ?	जो (यथार्थ) मुक्तिका कारण है।
यथार्थ लाभ क्या है ?	जो परमात्माकी प्राप्ति है, वही।
जगत्को किसने जीता ?	जिसने मनको जीता।

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा
मनोजवाणैर्व्यथितो न यस्तु।
प्राज्ञोऽथ धीरश्च समस्तु को वा
प्राप्तो न मोहं ललनाकटाक्षैः ॥१२॥

प्रश्न	उत्तर
वीरोंमें सबसे बड़ा वीर कौन है ?	जो कामबाणोंसे पीड़ित नहीं होता।
बुद्धिमान्, समदर्शी और धीर पुरुष कौन है ?	जो स्त्रियोंके कटाक्षोंसे मोहको प्राप्त न हो।

विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता
दुःखी सदा को विषयानुरागी।
धन्योऽस्ति को यस्तु परोपकारी
कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः ॥१३॥

प्रश्न	उत्तर
विषसे भी भारी विष कौन है ?	सारे विषयभोग ।
सदा दुःखी कौन है ?	जो संसारके भोगोंमें आसक्त है ।
और धन्य कौन है ?	जो परोपकारी है ।
पूजनीय कौन है ?	कल्याणरूप परमात्मतत्त्वमें स्थित महात्मा ।

सर्वास्ववस्थास्वपि किन्न कार्यं
किं वा विधेयं विदुषा प्रयत्नात् ।
स्नेहं च पापं पठनं च धर्मं
संसारमूलं हि किमस्ति चिन्ता ॥१४॥

प्रश्न	उत्तर
सभी अवस्थाओंमें विद्वानोंको बड़े जतनसे क्या नहीं करना चाहिये और क्या करना चाहिये ?	संसारसे स्नेह और पाप नहीं करना तथा सद्ग्रन्थोंका पठन और धर्मका पालन करना चाहिये।
संसारकी जड़ क्या है ?	(उसका) चिन्तन ही ।

विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा
नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः ।
का शृङ्खला प्राणभृतां हि नारी
दिव्यं व्रतं किं च समस्तदैन्यम् ॥१५॥

प्रश्न	उत्तर
समझदारोंमें सबसे अच्छा समझदार कौन है ?	जो स्त्रीरूप पिशाचिनीसे नहीं ठगा गया है ।

प्राणियोंके लिये शृंखला (बन्धन) क्या है ?	नारी ही ।
श्रेष्ठ व्रत क्या है ?	पूर्णरूपसे विनयभाव ।

ज्ञातुं न शक्यं च किमस्ति सर्वै-
योषिन्मनो यच्चरितं तदीयम् ।
का दुस्त्यजा सर्वजनैर्दुराशा
विद्याविहीनः पशुरस्ति को वा ॥१६॥

प्रश्न	उत्तर
सब किसीके लिये क्या जानना सम्भव नहीं है ?	स्त्रीका मन और उसका चरित्र ।
सब लोगोंके लिये क्या त्यागना अत्यन्त कठिन है ?	बुरी वासना (विषयभोग और पापकी इच्छाएँ) ।
पशु कौन है ?	जो सद्विद्यासे रहित (मूर्ख) है ।

वासो न सङ्गः सह कैर्विधेयो
मूर्खैश्च नीचैश्च खलैश्च पापैः ।
मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयं
सत्सङ्गतिर्निर्ममतेशभक्तिः ॥१७॥

प्रश्न	उत्तर
किन-किनके साथ निवास और संग नहीं करना चाहिये ?	मूर्ख, नीच, दुष्ट और पापियोंके साथ ।
मुक्ति चाहनेवालोंको तुरन्त क्या करना चाहिये ?	सत्सङ्ग, ममताका त्याग और परमेश्वरकी भक्ति ।

लघुत्वमूलं च किमर्थितैव
गुरुत्वमूलं यदयाचनं च।
जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म
को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः ॥१८॥

प्रश्न	उत्तर
छोटेपनकी जड़ क्या है ?	याचना ही।
बड़प्पनकी जड़ क्या है ?	कुछ भी न माँगना।
किसका जन्म सराहनीय है ?	जिसका फिर जन्म न हो।
किसकी मृत्यु सराहनीय है ?	जिसकी फिर मृत्यु नहीं होती।

मूकोऽस्ति को वा बधिरश्च को वा
वक्तुं न युक्तं समये समर्थः।
तथ्यं सुपथ्यं न शृणोति वाक्यं
विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी ॥१९॥

प्रश्न	उत्तर
गूँगा कौन है ?	जो समयपर उचित वचन कहनेमें समर्थ नहीं है।
और बहिरा कौन है ?	जो यथार्थ और हितकर वचन नहीं सुनता।
विश्वासके योग्य कौन नहीं है ?	नारी।

तत्त्वं किमेकं शिवमद्वितीयं
किमुत्तमं सच्चरितं यदस्ति।

त्याज्यं सुखं किं स्त्रियमेव सम्य-
ग्देयं परं किं त्वभयं सदैव ॥२०॥

प्रश्न	उत्तर
एक तत्त्व क्या है ?	अद्वितीय कल्याण-तत्त्व (परमात्मा) ।
सबसे उत्तम क्या है ?	जो उत्तम आचरण है ।
कौन-सा सुख तज देना चाहिये ?	सब प्रकारसे स्त्रीका सुख ही ।
देने योग्य उत्तम दान क्या है ?	सदा अभय ही ।

शत्रोर्महाशत्रुतमोऽस्ति को वा
कामः सकोपानृतलोभतृष्णः ।
न पूर्यते को विषयैः स एव
किं दुःखमूलं ममताभिधानम् ॥२१॥

प्रश्न	उत्तर
शत्रुओंमें सबसे बड़ा भारी शत्रु कौन है ?	क्रोध, झूठ, लोभ और तृष्णा-सहित काम ।
विषयभोगोंसे कौन तृप्त नहीं होता ?	वही काम ।
दुःखकी जड़ क्या है ?	ममता नामक दोष ।

किं मण्डनं साक्षरता मुखस्य
सत्यं च किं भूतहितं सदैव ।
किं कर्म कृत्वा नहि शोचनीयं
कामारिकंसारिसमर्चनाख्यम् ॥२२॥

प्रश्न	उत्तर
मुखका भूषण क्या है ?	विद्वत्ता ।
सच्चा कर्म क्या है ?	सदा ही प्राणियोंका हित करना ।
कौन-सा कर्म करके पछताना नहीं पड़ता ?	भगवान् शिव और श्रीकृष्णका पूजनरूप कर्म ।

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः
क्व सर्वथा नास्ति भयं विमुक्तौ ।
शल्यं परं किं निजमूर्खतैव
के के ह्युपास्या गुरुदेववृद्धाः ॥२३॥

प्रश्न	उत्तर
किसके नाशमें मोक्ष है ?	मनके ही ।
किसमें सर्वथा भय नहीं है ?	मोक्षमें ।
सबसे अधिक चुभनेवाली कौन चीज है ?	अपनी मूर्खता ही ।
उपासनाके योग्य कौन-कौन हैं ?	देवता, गुरु और वृद्ध ।

उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते
किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात् ।
वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं
मुरारिपादाम्बुजचिन्तनं च ॥२४॥

प्रश्न	उत्तर
प्राण हरनेवाले कालके उपस्थित होनेपर अच्छी बुद्धिवालोंको बड़े	सुख देनेवाले और मृत्युका नाश करनेवाले भगवान् मुरारिके चरण-

जतनसे तुरन्त क्या करना उचित है ?	कमलोंका तन, मन, वचनसे चिन्तन करना।

के दस्यवः सन्ति कुवासनाख्याः
कः शोभते यः सदसि प्रविद्यः।
मातेव का या सुखदा सुविद्या
किमेधते दानवशात्सुविद्या ॥२५॥

प्रश्न	उत्तर
डाकू कौन हैं ?	बुरी वासनाएँ।
सभामें शोभा कौन पाता है ?	जो अच्छा विद्वान् है।
माताके समान सुख देनेवाली कौन है ?	उत्तम विद्या।
देनेसे क्या बढ़ती है ?	अच्छी विद्या।

कुतो हि भीतिः सततं विधेया
लोकापवादाद्भवकाननाच्च।
को वातिबन्धुः पितरश्च के वा
विपत्सहायाः परिपालका ये ॥२६॥

प्रश्न	उत्तर
निरन्तर किससे डरना चाहिये ?	लोक-निन्दासे और संसाररूपी वनसे।
अत्यन्त प्यारा बन्धु कौन है ?	जो विपत्तिमें सहायता करे।
और पिता कौन हैं ?	जो सब प्रकारसे पालन-पोषण करें।

बुद्ध्वा न बोध्यं परिशिष्यते किं
शिवप्रसादं सुखबोधरूपम् ।
ज्ञाते तु कस्मिन्विदितं जगत्स्या-
त्सर्वात्मके ब्रह्मणि पूर्णरूपे ॥२७॥

प्रश्न	उत्तर
क्या समझनेके बाद कुछ भी समझना बाकी नहीं रहता ?	शुद्ध, विज्ञान, आनन्दघन कल्याणरूप परमात्माको ।
किसको जान लेनेपर (वास्तवमें) जगत् जाना जाता है ?	सर्वात्मरूप परिपूर्ण ब्रह्मके स्वरूपको ।

किं दुर्लभं सद्गुरुरस्ति लोके
सत्सङ्गतिर्ब्रह्मविचारणा च ।
त्यागो हि सर्वस्य शिवात्मबोधः
को दुर्जयः सर्वजनैर्मनोजः ॥२८॥

प्रश्न	उत्तर
संसारमें दुर्लभ क्या है ?	सद्गुरु, सत्सङ्ग, ब्रह्मविचार, सर्वस्वका त्याग और कल्याणरूप परमात्माका ज्ञान ।
सबके लिये क्या जीतना कठिन है ?	कामदेव ।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः ।
किन्तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः ॥२९॥

प्रश्न	उत्तर
पशुओंसे भी बढ़कर पशु कौन है ?	शास्त्रका खूब अध्ययन करके जो धर्मका पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ ।
वह कौन-सा विष है जो अमृत-सा जान पड़ता है ?	नारी ।
शत्रु कौन है जो मित्र-सा लगता है ?	पुत्र आदि ।

विद्युच्चलं किं धनयौवनायु-
दानं परं किञ्च सुपात्रदत्तम् ।
कण्ठंगतैरप्यसुभिर्न कार्यं
किं किं विधेयं मलिनं शिवार्चा ॥३०॥

प्रश्न	उत्तर
बिजलीकी तरह क्षणिक क्या है ?	धन, यौवन और आयु ।
सबसे उत्तम दान कौन-सा है ?	जो सुपात्रको दिया जाय ।
कण्ठगतप्राण होनेपर भी क्या नहीं करना चाहिये और क्या करना चाहिये ?	पाप नहीं करना चाहिये और कल्याणरूप परमात्माकी पूजा करनी चाहिये ।

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम् ।
किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ ॥३१॥

प्रश्न	उत्तर
रातदिन विशेषरूपसे क्या चिन्तन करना चाहिये ?	संसारका मिथ्यापन और कल्याण-रूप परमात्माका तत्त्व ।
वास्तवमें कर्म क्या है ?	जो भगवान् श्रीकृष्णको प्रिय हो ।
सदैव किसमें विश्वास नहीं करना चाहिये ?	संसार-समुद्रमें ।

कण्ठंगता वा श्रवणंगता वा
प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला ।
तनोतु मोदं विदुषां सुरम्यं
रमेशगौरीशकथेव सद्यः ॥३२॥

यह प्रश्नोत्तर नामकी मणिरत्नमाला कण्ठमें या कानोंमें जाते ही लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु और उमापति भगवान् शंकरकी कथा-की तरह विद्वानोंके सुन्दर आनन्दको बढ़ावे ।

मोहमुद्गरः

श्रीशङ्कराचार्यकृतः

प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते ॥

मृत्यु निकट आकर जब तेरा ग्रस्त करेगी प्राण,
'डुकृञ् करणे' धातु वहाँ तब कर न सकेगा त्राण ।
(इस कारण व्यामोह छोड़कर सुन रहस्य यह गूढ़—)
"भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं" मूढ़ ॥

मूढ जहीहि धनागमतृष्णां कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तन्तेन विनोदय चित्तम् ॥ १ ॥

अहे मूढ ! वैभव पानेकी तृष्णाको दे त्याग,
मन्दमते ! तू अपने मनमें कर ले पूर्ण विराग ।
जो कुछ वित्त मिला है तुझको कर्मोंके अनुसार—
बस उससे ही हृदय-बीच तू कर आनन्द-प्रचार ॥ १ ॥

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः ॥ २ ॥

अर्थ, अनर्थोंकी ही जड़ है सदा यही तू जान,
उससे सुखका लेश न मिलता, देख इसे सच मान ।
अपने सुतसे भी रहती है धनवानोंको भीति,
स्मरण रहे, यह सभी जगहमें कही गई है नीति ॥ २ ॥

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥ ३॥

कौन तुम्हारी यहाँ कामिनी, कौन पुत्र, 'हे मित्र'!
सारा ही संसार अहो! यह है अत्यन्त विचित्र॥
भला कहाँसे आया है तू, किसकी है सन्तान?
अये बन्धु! कर इसी तत्त्वका सदा हृदयमें ध्यान॥ ३॥

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं हरति निमेषात् कालस्सर्वम्।
मायामयमिदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा॥ ४॥

धन, जन, यौवनका कदापि तू कर न अरे! अभिमान,
पलक मारते सब कुछ हर लेता है काल महान्।
शीघ्र त्यागकर मायामय यह विषय-प्रपञ्च अशेष—
ज्ञान प्राप्तकर परब्रह्ममें कर अविलम्ब प्रवेश॥ ४॥

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वाऽऽत्मानम्भावय कोऽहम्।
आत्मज्ञानविहीना मूढास्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः॥ ५॥

अरे! त्यागकर काम, क्रोध, लोलुपता, मोह-विकार,
'मैं हूँ कौन?' निरन्तर यों ही कर तू आत्मविचार।
आत्मज्ञानसे वञ्चित रह जाते जो कोई मूढ—
विविध यन्त्रणाएँ वे सहते होकर नरक-निगूढ॥ ५॥

सुरवरमन्दिरतरुतलवासः शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः॥ ६॥

सुर-मन्दिर-समीप या तरुके नीचे वास-स्थान,
पृथ्वीतल ही शय्या हो, मृग-चर्ममात्र परिधान।

हो जाता है जहाँ सर्वथा भोगपरिग्रह-त्याग—
किसे नहीं सुख पहुँचाता है ऐसा शुद्ध विराग ? ॥ ६ ॥

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ मा कुरु यत्नं विग्रहसन्धौ ।
भव समचित्तः सर्वत्र त्वं वाञ्छस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम् ॥ ७ ॥

पुत्र तथा बान्धव कोई हो अथवा मित्र-सपत्न—
उनमें विग्रह-सन्धि आदिका कर न कदापि प्रयत्न ।
हो जा तू सम्पूर्ण वस्तुमें ही समदर्शी सन्त—
परमेश्वरमें मिल जानेकी हो यदि चाह तुरन्त ॥ ७ ॥

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः ।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेदज्ञानम् ॥ ८ ॥

मुझमें, तुझमें और अन्यमें व्याप्त एक ही विष्णु,
अतः वृथा तू क्रोधित होता है मुझपर असहिष्णु ।
आत्मरूप परमेश्वरको ही सब जीवोंमें जान,
अबसे भी सर्वत्र त्याग दे भेद-भावका ज्ञान ॥ ८ ॥

प्राणायामम्प्रत्याहारं नित्यानित्यविवेकविचारम् ।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं कुर्ववधानम्महदवधानम् ॥ ९ ॥

प्राणायाम और निज इन्द्रियका कर प्रत्याहार,
'क्या अनित्य या नित्य वस्तु है'—इसको सदा विचार ।
जाप्यसमेत सदा करता रह सुदृढ़ समाधि-विधान,
सावधान हो, कर प्रतिदिन उस महत्तत्त्वका ध्यान ॥ ९ ॥

नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम् ।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ॥ १० ॥

पद्म-पत्रपर पड़े हुए अति चञ्चल नीर समान ,
अतिशय चपल और क्षणभंगुर इस जीवनको जान ।
यहाँ एक बस क्षणभरकी सत्सङ्गतिहीका भाव—
भव-सागरसे तरनेमें बन जाता दृढ़तर नाव ॥१०॥

का तेऽष्टादशदेशे चिन्ता वातुल किन्तव नास्ति नियन्ता ।
यस्त्वां हस्ते सुदृढनिबद्धं बोधयति प्रभवादिविरुद्धम् ॥११॥

अरे ! अनेक देशमें तेरा क्योंकर रहता ध्यान ?
वातुल ! बतला, ऐसा कोई तेरा शासक क्या न ?
जो दृढ़तासे हाथ बाँधकर तुझे करे यह बोध—
'तेरा तो इस जन्म-मरणसे रहता सदा विरोध' ॥११॥

गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः संसारादचिराद्भव मुक्तः ।
सेन्द्रियमानसनियमादेवं द्रक्ष्यसि निजहृदयस्थन्देवम् ॥१२॥

श्रीगुरुदेवचरणपङ्कजका होकर अविचल भक्त ,
इस असार संसृतिसे हो जा तू अविलम्ब विरक्त ।
इन्द्रिययुत मनका नियमन करनेसे इसी प्रकार
देख सकेगा निज हृदयस्थित ईश्वरको अनिवार ॥१२॥

दिनयामिन्यौ सायम्प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥१३॥

दिवस और रजनीकी वेला सन्ध्या-प्रात अपार ,
शिशिर-वसन्त आदि ऋतुएँ भी आतीं बारम्बार ।
महाकाल क्रीडा करता है बीती जाती आयु ,
हाय ! न फिर भी छोड़ रही है यह आशाकी वायु !! ॥१३॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिवुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षस्तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥१४॥

आगे जलती आग दिवसमें पीठ-ओर है भानु,
रात्रि-समय ठोढ़ीमें सट जाते हैं दोनों जानु।
करतलमात्र पात्र भिक्षाका तरुके नीचे वास,
फिर भी नहीं छोड़ता हा! यह आशारूपी पाश ॥१४॥

यावद्वित्तोपार्जनशक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।
तदनु च जरया जर्जरदेहे वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥१५॥

जबतक धन पैदा करनेकी रहती कुछ भी शक्ति—
निज कुटुम्बकी भी तबतक ही देखी जाती भक्ति।
तदनन्तर जब कभी जरासे जर्जर होता गात—
नहीं पूछता है तब घरमें हा! कोई भी बात ॥१५॥

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति लोको ह्युदरनिमित्तं बहुकृतशोकः ॥१६॥

कोई जटिल तथा मुण्डी है कोई लुञ्चितकेश,
कोई वस्त्र गेरुआ धारे यों बहुविधकृतवेष।
सदा देखते रहनेपर भी नहीं देखता लोक,
पेट पालनेके ही हित करता है बहुधा शोक ॥१६॥

भगवद्गीता किञ्चिदधीता गङ्गाजललवकणिका पीता।
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा क्रियते तस्य यमेन न चर्चा ॥१७॥

यदि श्रीमद्भगवद्गीताका थोड़ा भी हो ज्ञान,
गंगाजल-कण लेशमात्र भी किया जिन्होंने पान।

एक बार जिनसे अर्चित हों मुररिपु कमला-कान्त,
उन जीवोंकी चर्चा करता नहीं कदापि कृतान्त ॥१७॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातन्तुण्डम्।
करधृतकम्पितशोभितदण्डं तदपि न मुञ्चत्याशाभाण्डम् ॥१८॥

पलित हो गये बाल शीशके गलित हुआ सब गात,
टूट गये त्यों ही क्रम-क्रमसे मुँहके सारे दाँत।
पकड़ा हुआ हाथमें कँपता कैसा फबता दण्ड?
फिर भी नहीं छोड़ता आशा-भाण्ड, अहो पाखण्ड !! ॥१८॥

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥१९॥

बालक है, तबतक नर रहता क्रीड़ामें आसक्त,
तरुण हुआ तब तरुणीहीमें हो जाता अनुरक्त।
वृद्ध-अवस्थामें नाना चिन्ताओंमें है मग्न,
हुआ नहीं उस परमब्रह्ममें कोई भी संलग्न ! ॥१९॥

यावज्जननन्तावन्मरणं तावज्जननीजठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः कथमिह मानव तव सन्तोषः ॥२०॥

जबतक यहाँ जन्म होता है तबतक मृत्यु-विलास,
तबतक ही करना पड़ता है जननि-जठरमें वास।
यदि इस जगमें दीख रहा है ऐसा स्फुटतर दोष,
हे मनुष्य ! फिर होता कैसे यहाँ तुझे सन्तोष? ॥२०॥

सत्सङ्गत्वे निस्सङ्गत्वं निस्सङ्गत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं निश्चलितत्वे जीवन्मुक्तिः ॥२१॥

सत्संगतिसे हो जाता नर विषयोंसे निस्संग,
फिर व्यामोह-रहित हो जाता, हो सर्वत्र असंग।
मोह विगत होते ही होता मन निश्चलतायुक्त,
निश्चलता आते ही वह हो जाता जीवन्मुक्त॥२१॥

वयसि गते कः कामविकारः शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारः ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः॥२२॥

आयू ढल जानेपर रहता कहाँ मनोज विकार?
नीर सूखनेपर रह जाता भला कहाँ कासार?
विभव नष्ट होनेपर रहता कहाँ अहो! परिवार?
तत्त्वज्ञान हो जानेपर है कहाँ भला संसार?॥२२॥

नारीस्तनभरनाभीदेशं दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं मनसि विचिन्तय वारम्वारम्॥२३॥

पीन उरोज देख रमणीका सुन्दर नाभि-प्रदेश,
कभी नहीं तू लाना मनमें मोहजन्य आवेश।
यह तो मांस और मज्जादिकका है घृणित विकार!
देख, हृदयमें सदा यही तू वारम्वार विचार॥२३॥

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम्॥२४॥

तू है कौन, कहाँसे आया, अथवा मैं हूँ कौन?
कौन हमारी माता है या पिता हमारा कौन?
इन सब बातोंका तुम करते रहना सदा विचार,
स्वप्नविचारसमान त्यागकर यह असार संसार॥२४॥

गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥२५॥

गीता विष्णुसहस्रनामका करते रहना गान,
प्रतिक्षण माधवके स्वरूपका धरते रहना ध्यान ।
साधुजनोंकी ही सङ्गतिमें सदा लगाना चित्त,
दीनजनोंके लिये सर्वदा देते रहना वित्त ॥२५॥

यावत् पवनो निवसति देहे तावत् पृच्छति कुशलं गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये भार्य्या बिभ्यति तस्मिन् काये ॥२६॥

जबतक इस शरीरके भीतर करता प्राण निवास,
तबतक प्रिया पूछती रहती गृहमें 'कुशल' सहास ।
किन्तु प्राण जब विलग हो गया, होता तनका नाश,
तब भार्य्याको भी भय होता उस शरीरके पास ॥२६॥

सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥२७॥

सुखके हेतु किया जाता है रमणीका संभोग,
पीछे हाय ! समस्त देहमें छा जाता है रोग ।
यदपि मृत्युका आश्रय लेना ही पड़ता जगबीच,
फिर भी पापाचारोंको वह नहीं छोड़ता नीच ॥२७॥

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
योगी योगनियोजितचित्तो रमते बालोन्मत्तवदेव ॥२८॥

मार्गपतित चिथड़ोंका रच लेता है अपना कन्थ,
पाप-पुण्यसे सदा निराला रहता उसका पन्थ ।

योगी योगाभ्यासपरायण करके अपना चित्त,
बालक या उन्मत्त-सदृश ही रमता रहता नित्त ॥२८॥

कुरुते गङ्गासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन मुक्तिं भजति न जन्मशतेन ॥२९॥

कोई तो करता गङ्गासागरको ही प्रस्थान,
कोई व्रतका पालन करता अथवा देता दान।
यही किन्तु सबका मत है जो रहता ज्ञानविहीन,
सौ जन्मोंमें भी पा सकता मुक्ति नहीं वह दीन ॥२९॥

योगरतो वा भोगरतो वा सङ्गरतो वा सङ्गविहीनः।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तन्नन्दति नन्दति नन्दत्येव ॥३०॥

योगाभ्यासपरायण हो या सदा भोगमें लीन,
सदा सङ्गमें निरत रहे या होवे सङ्गविहीन।
किन्तु ब्रह्ममें रम जाता है जिस प्राणीका चित्त,
वह अवश्य ही आनन्दित होता रहता है नित्त ॥३०॥

अष्टकुलाचलसप्तसमुद्रा ब्रह्मपुरन्दरदिनकररुद्राः।
न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥३१॥

कुल-पर्वत ये आठ और अति विस्तृत सात समुद्र,
ब्रह्मा इन्द्र आदि सुरगण या दिनकर अथवा रुद्र—
ये सब कोई नित्य नहीं हैं तू, मैं या यह लोक।
फिर भी यों किसलिये व्यर्थ ही किया जा रहा शोक? ॥३१॥

(घ) पद्यावली

भजन

तोटक छन्द

जय राम रमा-रमनं समनं-
भव-ताप भयाकुल पाहि जनं।
अवधेस, सुरेस, रमेस, विभो,
सरनागत माँगत पाहि प्रभो॥
दससीस-बिनासन बीस भुजा-
कृत दूरि महा-महि भूरि रुजा।
रजनी-चर-वृन्द पतंग रहे
सर-पावक-तेज प्रचंड दहे॥
महि-मंडल-मंडन चारुतरं
धृत-सायक-चाप-निषंग-वरं।
मद-मोह-महा-ममता-रजनी
तमपुञ्ज दिवाकर-तेज-अनी॥
मनुजात किरात निपात किये,
मृगलोभ कुभोग स्तूरे न हिये।
हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे,
विषयायन पाँवर भूलि परे॥
बहु रोग वियोगन्हि लोग हये,
भवदंघ्रिनिरादरके फल ये।
भवसिन्धु अगाध परे नर ते,
पद-पंकज-प्रेम न जे करते॥

अति दीन मलीन दुखी नित ही,
जिन्हके पद-पंकज प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिन्हके,
प्रिय संत अनन्त सदा तिन्हके॥
नहिं राग न लोभ न मान मदा,
तिन्हके सम वैभव वा विपदा।
एहि ते तव सेवक होत मुदा,
मुनि त्यागत जोग-भरोस सदा॥
करि प्रेम निरंतर नेम लिये,
पदपंकज सेवत शुद्ध हिये।
सम मान निरादर आदर हो,
सब संत सुखी विचरंत मही॥
मुनि-मानस-पंकज-भृङ्ग भजे,
रघुवीर महा रनधीर अजे।
तव नाम जपामि नमामि हरी,
भवरोग महामदमान अरी॥
गुनसील कृपापरमायतनं,
प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।
रघुनंद निकंदन द्वंद्वघनं।
महिपाल विलोकय दीनजनं॥
दोहा—बार बार बर माँगऊँ हर्षि देहु श्रीरंग।
पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

राग सोरठ

ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥ १॥

जो गति जोग बिराग जतन करि, नहिं पावत मुनि ग्यानी।

सो गति देत गीध सबरी कहँ, प्रभु न बहुत जिय जानी॥ २॥

जो सम्पति दससीस अरपि करि, रावन सिव पहँ लीन्हीं।

सो सम्पदा बिभीषन कहँ अति सकुच-रहित हरि दीन्हीं॥ ३॥

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख, जो चाहसि मन मेरो।

तौ भजु राम, काम सब पूरन, करहिं कृपानिधि तेरो॥ ४॥

राग धनाश्री

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।

और आस बिस्वास भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई॥ १॥

चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।

हेतुरहित अनुराग राम-पद, बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥ २॥

कुटिल करम लै जाइ मोहि जहँ-जहँ अपनी बरिआई।

तहँ-तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये, कमठ-अण्डकी नाईं॥ ३॥

या जगमें जहँलग या तनुकी, प्रीति प्रतीति सगाई।

ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों, होहिं सिमिटि इक ठाईं॥ ४॥

राग टोडी

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज-हारी॥ १॥

नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥ २ ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो ।
तात, मात, गुरु, सखा तू, सब विधि हितु मेरो ॥ ३ ॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै ।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै ॥ ४ ॥

राग नट

मैं हरि पतित-पावन सुने ।
हौं पतित, तुम पतित-पावन, दोउ बानक बने ॥ १ ॥
व्याध गनिका गज अजामिल, साखि निगमनि भने ।
और अधम अनेक तारे, जात कापै गने ॥ २ ॥
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक यमपुर मने ।
दास तुलसी सरन आयो, राखिये अपने ॥ ३ ॥

राग बागेश्री

कौन जतन बिनती करिये ।
निज आचरन बिचारि हारि हिय, मानि जानि डरिये ॥ १ ॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन, सो हठि परिहरिये ।
जाते बिपति-जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ॥ २ ॥
जानत हूँ मन बचन करम, परहित कीन्हें तरिये ।
सो विपरीत देखि परसुख, बिनु कारन ही जरिये ॥ ३ ॥
श्रुति पुरान सबको मत यह सत्संग सुदृढ़ धरिये ।
निज अभिमान मोह ईर्षा बस, तिनहिं न आदरिये ॥ ४ ॥

संतत सोइ प्रिय मोहि सदा, जाते भवनिधि परिये।
कहु अब नाथ! कौन बलतें, संसार-सोक हरिये ॥ ५ ॥
जब-कब निज करुना-सुभावतें, द्रवहु तौ निस्तरिये।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि पचि मरिये ॥ ६ ॥

राग पूर्वी

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु हीते ॥१॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बलीते।
'हम-हम' करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते ॥२॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबहीतें।
अन्तहुँ तोहिं तजेंगे, पामर! तू न तजै अबहीतें ॥३॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जीतें।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषयभोग बहु घीतें ॥४॥

राग आसावरी

दीनन दुखहरन देव, सन्तन सुखकारी ॥१॥
अजामील गीध व्याध, इनमें कहो कौन साध,
पंछीहू पद पढ़ात, गनिका-सी तारी ॥२॥
ध्रुवके सिर छत्र देत, प्रहलादकहँ उबार लेत,
भक्त हेत बाँध्यो सेत, लंकपुरी जारी ॥३॥
तन्दुल देत रीझ जात, सागपातसों अघात,
गिनत नहीं जूँठे फल, खाटे-मीठे खारी ॥४॥

गजको जब ग्राह ग्रस्यो, दुःशासन चीर खस्यो,
सभा बीच कृष्ण कृष्ण, द्रौपदी पुकारी ॥५॥
इतनेमें हरि आइ गये, बसनन आरूढ भये,
सूरदास द्वारे ठाढ़ो, आँधरो भिखारी ॥६॥

राग आसावरी

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम-क्रोधको पहिरि चोलना कण्ठ विषयकी माल ॥ १ ॥
महा-मोहके नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
भरम भरयो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल ॥ २ ॥
तृष्णा नाद करत घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
मायाको कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दियो भाल ॥ ३ ॥
कोटिक कला काँछि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल।
सूरदासकी सबै अविद्या, बेगि हरौ नँदलाल ॥४॥

राग धनाश्री

अँखियाँ हरि-दरशनकी प्यासी।
देख्यो चाहत कमलनैनको, निसिदिन रहत उदासी ॥ १ ॥
केसर तिलक मोतिनकी माला, वृन्दावनके वासी।
नेह लगाय त्यागि गये तृन सम, डारि गये गल-फाँसी ॥ २ ॥
काहूके मनकी को जानत, लोगनके मन हाँसी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिन लैहों करवत कासी ॥ ३ ॥

राग धनाश्री

अँखियाँ हरि-दरशनकी भूखी।

अब क्यों रहति श्याम-रँग राती, ये बातैं सुनि रूखी॥ १॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत, तब ये इतौं नहिं भूखी।
इते मान इति योग सँदेशन, सुनि अकुलानी दूखी॥ २॥
सूर सकत हठ नाव चलावत ये सरिता हैं सूखी।
वारक वह मुख आनि देखावहु, दुहि पै पिवत पतूखी॥३॥

राग सारंग

निसिदिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहत पावस ऋतु हमपर जबतें श्याम सिधारे॥१॥
अंजन थिर न रहत अँखियनमें, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥२॥
आँसू सलिल भये पग थाके, बहे जात सित तारे।
सूरदास अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे॥३॥

राग आसावरी

करी गोपालकी सब होइ।

जो अपनो पुरुपारथ मानत, अति झूँठो है सोइ॥
साधन मंत्र यंत्र उद्यम बल, यह सब डारहु धोइ।
जो कछु लिखि राखी नँदनन्दन, मेटि सकै नहिं कोइ॥
दुख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम-चरन मन पोइ॥

राग बिलावल

नाहिंन रह्यो हियमें ठौर।
नन्द-नन्दन अछत कैसे, आनिये उर और ॥१॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत रात।
हृदयतें वह श्याम मूरति छिन न इत उत जात ॥२॥
कहत कथा अनेक ऊधो ! लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात ॥३॥
श्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥४॥

राग भैरवी

सुने री मैंने निर्बलके बल राम।
पिछली साख भरूँ संतनकी अड़े सँवारे काम॥
जबलगि गज बल अपनो बरत्यो नेक सर्‌यो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम॥
द्रुपदसुता निर्बल भइ ता दिन तजि आये निज धाम।
दुःशासनकी भुजा थकित भई बसन रूप भये श्याम॥
अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
सूर किशोर-कृपातें सब बल हारेको हरिनाम॥

राग सारंग

वा पट पीतकी फहरान।
कर धरि चक्र चरनकी धावनि नहिं बिसरति यह बान ॥१॥
रथते उतरि अवनि आतुर ह्वै कच-रजकी लपटान।
मानो सिंह सैलतें निकस्यो महामत्त गज जान ॥२॥

जिन गुपाल मेरो प्रन राख्यो मेटि बेदकी कान।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भये हैं आन ॥३॥

लावनी

समझ बूझ दिल देख पियारे आशिक होकर सोना क्या ॥
रूखा सूखा रामका टुकड़ा फीका और सलोना क्या।
पाया हो तो दे ले प्यारे पाय पाय फिर खोना क्या ॥
जिन आँखिनसों नींद गवाँई तकिया लेप बिछौना क्या।
कहत कमाल प्रेमके मारग सीस दिया तब रोना क्या ॥

राग सारंग

रे! तोहे पीव मिलेंगे, घूँघटका पट खोल।
घट घटमें वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल ॥१॥
धन जोबनको गरब न कीजै, झूठा पचरंग चोल।
सुन्न महलमें दियना बारि लै, आसनसों मत डोल ॥२॥
जोग जुगुतसों रङ्गमहलमें पिय पायो अनमोल।
कहत कबीर अनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल ॥३॥

राग भैरवी

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहेकै ताना काहेकै भरनी, कौन तारसे बीनी चदरिया ॥१॥
इँगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तारसे बीनी चदरिया ॥२॥
आठ कँवलदल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ॥३॥
साईंको सियत मास दस लागे, ठोक ठोकके बीनी चदरिया ॥४॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ैं, ओढ़िके मैली कीनी चदरिया ॥५॥
दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥६॥

गजल

हमन है इश्क़ मस्ताना हमनको होशियारी क्या?
रहैं आजाद या जगमें, हमन दुनियाँसे यारी क्या? ॥१॥
जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तजारी क्या? ॥२॥
ख़लक़ सब नाम अपनेको, बहुत कर सर पटकता है।
हमन हरि-नाम साँचा है, हमन दुनियाँसे यारी क्या? ॥३॥
न पल बिछुड़ें पिया हमसें, न हम बिछुड़ें पियारेसे।
उन्हींसे नेह लागी है, हमनको बेकरारी क्या? ॥४॥
कबीरा इश्कका माता, दुईको दूर कर दिलसे।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सर बोझ भारी क्या? ॥५॥

राग काफी

आई गवनवाँकी सारी, उमिरि अबहीं मोरि बारी॥टेक॥
साज समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरिकै, जोरत गँठिया हमारी॥
सखी सब पारत गारी॥१॥
विधि-गति बाम कछु समुझि परत ना बैरी भई महतारी।
रोय रोय अँखियाँ मोरि पोंछत, घरवासें देत निकारी॥
भई सबको हम भारी॥२॥
गौन कराय पिया लै चाले, इत उत बाट निहारी।
छूटत गाँव नगरसों नाता, छूटै महल अटारी॥
कर्म गति टरै न टारी॥३॥

नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घुँघट पट टारी।
थरथराय तनु काँपन लागे, काहू न देख हमारी॥
पिया लै आये गोहारी ॥४॥
कहै कबीर सुनो भई साधो, यह पद लेहु विचारी।
अबकै गौना बहुरि नहिं औना, करिलै भेंट अँकवारी॥
एक बेर मिलि ले प्यारी ॥५॥

राग भैरवी

मेरे तो गिरधर-गुपाल दूसरो न कोई ॥टेक॥
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बन्धु, आपनो न कोई ॥१॥
छाँड दई कुलकी कान, का करिहैं कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक-लाज खोई ॥२॥
चुनरीके किये टूक, ओढ़ लीन्हि लोई।
मोती मूँगे उतार, बनमाला पोई ॥३॥
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई, होनी हो सो होई ॥४॥
दूधकी मथनियाँ बड़े प्रेमसे बिलोई।
माखन जब काढ़ि लियो छाछ पिये कोई ॥५॥
आई मैं भक्ति काज जगत देख मोही।
दासि मीरा गिरधर प्रभु, तारो अब मोही ॥६॥

राग भैरवी

श्याम म्हाँने चाकर राखोजी गिरधारीलाल चाकर राखोजी ॥टेक॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ।
वृन्दावनकी कुंजगलिनमें, गोविंदका गुण गासूँ ॥१॥

चाकरीमें दरशन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भगति जागिरी पाऊँ तीनूँ बाताँ सरसी ॥२॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे, गल बैजन्ती माला।
वृन्दावनमें धेनु चरावे, मोहन मुरलीवाला ॥३॥
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी।
साँवरियाँके दरशन पाऊँ, पहिर कुसूँमल सारी ॥४॥
जोगी आया जोग करनकूँ, तप करने सन्यासी।
हरी भजनको साधू आया, वृन्दावनके बासी ॥५॥
मीराके प्रभु गहिर गँभीरा, हृदै रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दर्शन दीन्हो, प्रेम-नदीके तीरा ॥६॥

मारवाड़ी गत

हे री मैं तो प्रेमदिवानी मेरो दरद न जाणे कोय ॥टेक॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोणो किस विध होय।
गगन-मँडलपर सेज पियाकी, किस विध मिलणो होय ॥१॥
घायलकी गति घायल जानै, जो कोई घायल होय।
जौहरीकी गति जौहरि जानै, दूजा न जानै कोय ॥२॥
दरदकी मारी बन बन डोलूँ, वैद मिल्यो नहिं कोय।
मीराके प्रभु पीर मिटै जब, वैद साँवलियो होय ॥३॥

राग आसावरी

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जबसे तुम बिछुरे मेरे प्रभुजी, कबहूँ न पायो चैन ॥१॥

शब्द सुनत मेरी छतियाँ कम्पै, मीठे लागे बैन।
एक-टकटकी पंथ निहारूँ, भई छमासी रैन ॥२॥
बिरह बिथा कासूँ कहुँ सजनी बह गई करवत नैन।
मीराके प्रभु कब रे मिलोगे, दुख-मेटन सुख-दैन ॥३॥

गजल

अगर है शौक मिलनेका, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाईको, भसम तनपर लगाता जा॥
पकड़कर इश्कको झाड़ू, सफा कर हिज्र-ए-दिलको।
दुईकी धूलको लेकर, मुसल्लेपर उड़ाता जा॥
मुसल्ला छोड़, तसबी तोड़, किताबें डाल पानीमें।
पकड़ दस्त तू फिरश्तोंका, गुलाम उनका कहाता जा॥
न मर भूखे, न रख रोजा, न जा मस्जिद न कर सिज्दा।
वजूका तोड़ दे कूजा, शराबे-शौक पीता जा॥
हमेशा खा, हमेशा पी, न गफलतसे रहे इकदम।
नशेमें सैर कर अपनी, खुदीको तू जलाता जा॥
न हो मुल्ला, न हो ब्रह्मन, दुईकी छोड़कर पूजा।
हुक्म है शाह कलंदरका, अनलहक तू कहाता जा॥
कहे मन्सूर मस्ताना, हक मैंने दिलमें पहचाना।
वही मस्तोंका मयखाना, उसीके बीच आता जा॥

राग कालिंगड़ा

मूरख छाँडि वृथा अभिमान।
औसर बीति चल्यौ है तेरो, दो दिनको मेहमान ॥१॥

भूप अनेक भये पृथिवीपर, रूप तेज बलवान।
कौन बच्यो या काल व्यालतें, मिटि गये नाम निसान ॥२॥
धवल धाम धन गज रथ सेना, नारी चन्द्र समान।
अंत समै सबहीको तजिकै, जाय बसे समसान ॥३॥
तजि सतसंग भ्रमत विषयनमें, जा विधि मरकट-स्वान।
छिन भरि बैठि न सुमिरन कीन्हों, जासों होय कल्यान ॥४॥
रे मन मूढ़, अनत जनि भटकै, मेरो कह्यो अब मान।
नारायन ब्रजराज-कुँवरसों, बेगहि करि पहिचान ॥५॥

राग विहाग

नयनों रे, चितचोर बतावौ।
तुम ही रहत भवन रखवारे, बाँके वीर कहावौ ॥१॥
तुम्हरे बीच गयो मन मेरो, चाहे सौहैं खावौ।
अब क्यों रोवत हौ दइ-मारे, कहूँ तौ थाह लगावौ ॥२॥
घरके भेदी बैठि द्वारपै, दिनमें घर लुटवावौ।
नारायण मोहि बस्तु न चहिये, लैनेहार दिखावौ ॥३॥

राग सोरठ

मोहन बसि गयो मेरे मनमें।
लोक-लाज कुल-कानि छूटि गई, याकी नेह लगनमें ॥१॥
जित देखौं तित ही वह दीखै, घर-बाहर-आँगनमें।
अंग अंग प्रति रोम रोममें, छाइ रह्यो तन मनमें ॥२॥
कुण्डल झलक कपोलन सोहै, बाजूबन्द भुजनमें।
कंकन कलित ललित बनमाला, नूपुर धुनि चरननमें ॥३॥

चपल नैन भ्रकुटी बर बाँकी, ठाढ़ो सघन लतनमें।
नारायन बिनु मोल बिकी हौं, वाकी नेक हँसनमें ॥४॥

राग मुलतानी

मनकी मनही माँहिं रही।
ना हरि भजे न तीरथ सेये चोटी काल गही ॥
दारा, मीत, पूत, रथ, सम्पति धन जन पूर्ण मही।
भोग सकल मिथ्या यह जानो भजना राम सही ॥
फिरत फिरत बहुते जुग हारयो मानुस देह लही।
नानक कहत मिलनको बेरियाँ सुमिरत काहे नहीं ?

राग दुर्गा

रे मन ! रामसों कर प्रीत।
श्रवण गोविंद गुण सुनो अरु गाउ रसना गीत ॥१॥
कर साधु संगत सुमिर माधो होय पतित पुनीत ॥२॥
काल व्याल ज्यों सदा डोलै मुख पसारे मीत ॥३॥
आजकल पुनि तोहिं ग्रसिहैं समझ राखो चीत ॥४॥
कहे नानक राम भज ले जात अवसर बीत ॥५॥

राग बागेश्री

अजहुँ न निकसै प्राण कठोर ! ॥ टेक ॥
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ॥१॥
चारि पहर चारौं जुग बीते, रैनि गवाँई भोर ॥२॥
अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कतहुँ रहे चितचोर ! ॥३॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत चोर ॥४॥
दादू ऐसे आतुर बिरहिनी, जैसे चन्द चकोर ॥५॥

राग गौरी

मुसाफिर रैन रही थोरी।

जागु जागु सुख-नींद त्यागि दे, होत वस्तुकी चोरी ॥१॥

मंजिल दूरि भूरि भवसागर, मान कूर मति मोरी।

ललितकिसोरी हाकिमसों डरु, करै जोर बरजोरी ॥२॥

राग धनाश्री

तातल-सैकत वारि-विन्दु सम सुत-मित-रमणि समाजे।

तोहे विसरि मन ताहे समर्पिनु अब मझु हब कोन काजे॥

माधव ! हम परिणाम निराशा।

तुँहु जगतारण दीन दयामय अतये तोहारि विसवासा॥

आध जनम हम नींदे गवाँयनु जरा शिशु कतदिन गेला।

निधुवने रमणी रस रंग मातलुँ तोहे भजब कोन वेला॥

कत चतुरानन मरि मरि जावत न तुआ आदि अवसाना।

तोहे जनमि पुन तोहे समायत सागर-लहर समाना॥

भनै विद्यापति शेष शमनभय तुआ विना गति नहिं आरा।

आदि अनादिक नाथ कहायसि भव-तारण भार तुहारा॥

राग धनाश्री

भजहु रे मन नन्दनन्दन, अभय चरणारविन्द रे।

दुलभ मानुख जनम, सत्संगे तरइ ए भवसिन्धु रे॥

शीत आतप वात बरिख ए दिन यामिनी जागि रे।

बिफले सेविनु कृपण दुर्जन चपल सुख लव लागि रे॥

ए धन यौवन पुत्र परिजन इथे कि आछे परतीत रे।

कमल-दल-जल जीवन टलमल, भजहु हरिपद नित्त रे॥

श्रवण कीर्तन स्मरण वन्दन पाद सेवन दासि रे।
पूजन सखिजन आत्मनिवेदन गोविन्ददास अभिलाषि रे॥

बंगला

राग आसावरी

अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे।
निर्मल कर उज्ज्वल कर सुन्दर कर हे॥
जाग्रत कर उद्यत कर निर्भय कर हे।
मंगल कर निरलस निःसंशय कर हे॥
युक्त कर हे सबार संगे मुक्त कर हे बन्ध।
संचार कर सकल कर्मे शान्त तोमार छन्द॥
चरणपद्मे मम चित्त निष्पन्दित कर हे।
नंदित कर नंदित कर नंदित कर हे॥

बंगला

राग इमन कल्याण

सुन्दर हृदिरंजन तुमि नन्दन फुलहार।
तुमि अनन्त नव बसन्त अन्तरे आमार॥
नील अम्बर चुम्बन-नत चरणे-धरणी मुग्ध नियत।
अंचल घेरि संगीत यत गुंजरे शत वार॥
झलकि छे कत इन्दु-किरण पुलकि छे फूलगन्ध।
चरण भंगे ललित अंगे चमके चकित छन्द॥
छिडि मर्मेर शत बन्धन, तोमा पाने धाय यत कन्दन।
लह हृदयेर फूल चन्दन वन्दन उपहार॥

राग जैजैवन्ती

कर प्रणाम तेरे चरणोंमें लगता हूँ अब जगके काज।
पालन करनेको आज्ञा तव मैं नियुक्त होता हूँ आज॥
अन्तरमें स्थित रहकर मेरे बागडोर पकड़े रहना।
निपट निरंकुश चञ्चल मनको सावधान करते रहना॥
अन्तर्यामीको अन्तःस्थित देख सशंकित होवे मन।
पाप-वासना उठते ही हो नाश लाजसे वह जलभुन॥
जीवोंका कलरव जो दिनभर सुननेमें मेरे आवे।
तेरा ही गुणगान जान मन प्रमुदित हो अति सुख पावे॥
तू ही है सर्वत्र व्याप्त प्रभु तुझमें सारा यह संसार।
इसी भावनासे अन्तरभर मिलूँ सभीसे तुझे निहार॥
प्रतिक्षण जिन इन्द्रिय-समूहसे जो कुछ भी आचार करूँ।
केवल तुझे रिझानेको बस तेरा ही व्यवहार करूँ॥

राग शंकरा

दीनबन्धो कृपासिन्धो, कृपाबिन्दू दो प्रभो।
उस कृपाकी बूँदसे फिर, बुद्धि ऐसी हो प्रभो॥
वृत्तियाँ द्रुत-गामिनी हों, आ समावें नाथमें।
नद-नदी जैसे समाती हैं, सभी जलनाथमें॥
जिस तरफ देखूँ उधर ही, दरश हो श्रीरामका।
आँख भी मूँदूँ तो दीखे, मुखकमल घनश्यामका॥
आपमें मैं आ मिलूँ प्रभु ! यह मुझे वरदान दो।
मिलती तरंग समुद्रमें, जैसे मुझे भी स्थान दो॥

छूट जावें दुःख सारे, क्षुद्र सीमा दूर हो।
द्वैतकी दुविधा मिटे, आनन्दमें भरपूर हो॥
आनन्द सीमा रहित हो, आनन्द पूर्णानन्द हो।
आनन्द सत् आनन्द हो, आनन्द चित् आनन्द हो॥
आनन्दका आनन्द हो, आनन्दमें आनन्द हो।
आनन्दको आनन्द हो, आनन्द ही आनन्द हो॥

राग भैरवी

देख दुःखका वेष धरे मैं, नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं, पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ छिपा लो तुम मुँह अपना, चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें एक, कोनेमें जग सारेमें॥
रोग शोक धनहानि दुःख, अपमान-घोर अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम सब ही है तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेष॥
तुम्हरे बिना नहीं कुछ जब, तब फिर मैं किसलिये डरूँ।
मृत्यु साज सज यदि आओ तो, चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन चाहे जैसा भी, दुःख वेष धारण कर नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं, पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥

लावनी

पलभर पहिले जो कहता था यह धन मेरा यह घर मेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा
जिस चटक-मटक औ फैशनपर तू है इतना भूला फिरता।
जिस पद-गौरवके रौरवमें दिन रात शौकसे है गिरता॥

जिस तड़क-भड़क औ मौज-मज़ोंमें फुरसत नहीं तुझे मिलती।
जिस गान-तान औ गप्प-शप्पमें सदा जीभ तेरी हिलती॥
इन सभी साज-सामानोंसे छुट जायेगा रिश्ता तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥१॥

जिस धन-दौलतके पानेको तू आठों पहर भटकता है।
जिन भोगोंका अभाव तेरे अन्तरमें सदा खटकता है॥
जिस सबल देह सुन्दर आकृतिपर तू इतना अकड़ा जाता।
जिन विषयोंमें सुख देख रहा पर कभी नहीं पकड़े पाता॥
इन धन जोबन बल रूप सभीसे टूटेगा नाता तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥२॥

जिस तनको सुख पहुँचानेको तू ऊँचे महल बनाता है।
जिसके विलासके लिये निरन्तर चुन-चुन साज सजाता है॥
जिसको सुन्दर दिखलानेको है साबुन तैल लगाता तू।
जिसकी रक्षाके लिये सदा है देवी देव मनाता तू॥
वह धूलि-धूसरित हो जायेगा सोने-सा शरीर तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥३॥

जिस नश्वर तनके लिये किसीसे लड़नेमें नहिं सकुचाता।
जिस तनके लिये हाथ फैलाते जरा नहीं तू शरमाता॥
जो चोर-डाकुओंके डरसे नित पहरोंके अन्दर सोता।
जो छायाको भी प्रेत समझकर डरता है व्याकुल होता॥
वह देह खाक हो पड़ा अकेला सूने मरघटमें तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥४॥

जिन माता पिता पुत्र स्वामीको अपना मान रहा है तू।
जिन मित्र-बन्धुओंको, वैभवको अपना जान रहा है तू॥
है जिनसे यह सम्बन्ध टूटना कभी नहीं तैंने जाना।
है जिनके कारण अहंकारसे नहीं बड़ा किसको माना॥
यह छूटेगा सम्बन्ध सभीसे होगा जङ्गलमें डेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥५॥

जिनके लिये भूल बैठा उस जगदीश्वरका पावन नाम।
है जिनके लिये छोड़ सब सुकृत पापोंका तू बना गुलाम॥
रे ! भूले हुए जीव ! यह सब कुछ पड़े यहीं रह जायेंगे।
जिनको तैंने अपना समझा वे सभी दूर हट जायेंगे॥
हो सचेत अब व्यर्थ गवाँ मत जीवन यह अमूल्य तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥६॥

श्रीपरमात्मने नमः

आपको आवश्यकता है—

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और धर्मकी; घर-परिवार और संसारके पवित्र प्रेमकी; लोक-परलोकका सरल-सीधा मार्ग बतानेवालेकी; भय, शोक, चिन्ता, आसुरी स्वभावके दुर्गुणोंसे छुड़ानेवालेकी; समता, शान्ति, निश्चिन्तता, प्रेम और परमानन्द देनेवालेकी। दुनियाँमें रहते हुए इन सबकी प्राप्तिका सुगम मार्ग—सहज-साधन बतानेमें यह ग्रन्थ आपकी सहायता कर सकता है—

'तत्त्व-चिन्तामणि'

भाग १

एक पुस्तक मँगवाकर जरा पढ़कर देखिये, आपकी विचारधारा पलटती है या नहीं?

पृष्ठ ३५०, मोटा एण्टिक कागज, साफ सुन्दर छपाई, बड़े अक्षर, भगवान्‌के २ मनोहर चित्र, मूल्य प्रचारार्थ केवल ।॥≈) सजिल्द ॥।-), यह ८००० छप चुकी है। इसके लेखक हैं—श्रीजयदयालजी गोयन्दका।

यह पुस्तक सदा सबके कामकी है। इसका दूसरा भाग छप रहा है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

कीर्तनीयः सदा हरिः ।

सचित्र

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी सविस्तर जीवनी अभीतक हिन्दीमें कहीं नहीं छपी। भगवान् और उनके भक्तोंके गुणगानसे भरी हुई इस जीवनीको पढ़कर सभी सज्जन लाभ उठावें। इसकी भाषा सुन्दर है। छपाई उत्तम है। वर्णन सरस है। श्रीचैतन्यदेवकी लीलाओंके विषयमें तो कहना ही क्या? जिन्होंने एक बार भी थोड़ी सुनी है, उनका चित्त ही जानता है।

सम्पूर्ण पुस्तक पाँच खण्डोंमें समाप्त होगी। पहला-दूसरा खण्ड छप गये हैं। (मूल्य क्रमशः ॥।≈) और १≈) है)। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ छपनेके लिये प्रेसमें आ गये हैं, शीघ्र ही तैयार होंगे। छपाई आदि सब सुन्दर साफ होंगे।

इन्हें पढ़कर लाभ उठानेकी पुनः प्रार्थना है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर